जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 4 • अप्रैल, 2001

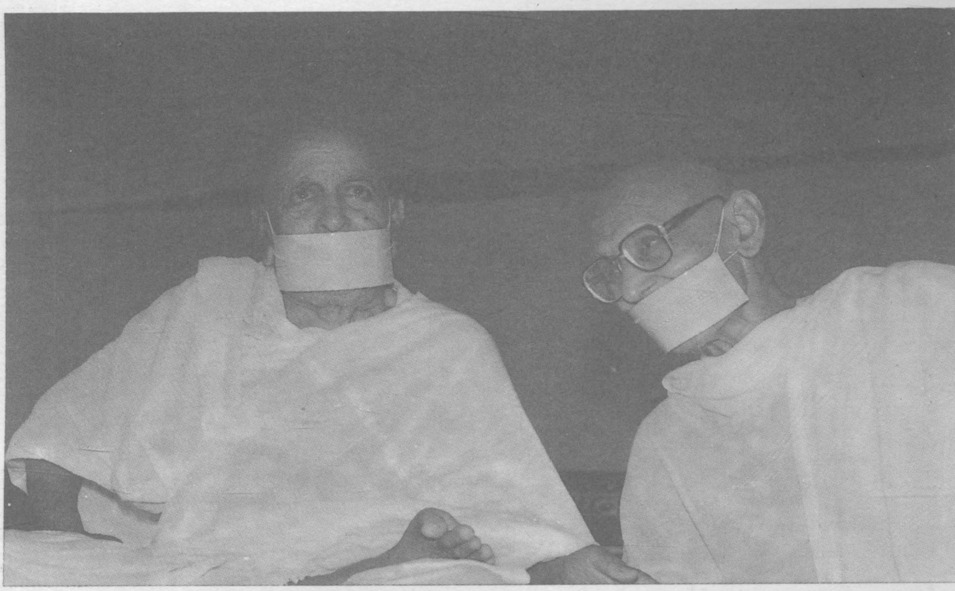

शुभकामनाओं सहित :

विद्यासागर जैन CA
पूर्व अध्यक्ष, श्री जैन श्वे. तेरापंथी सभा, हिसार

प्रेम सागर जैन, हांसी, दयासागर जैन एडवोकेट, हिसार

लक्ष्मीसागर जैन एडवोकेट, हिसार
अध्यक्ष, हरियाणा प्रांतीय जैन श्वे. तेरापंथी सभा

प्रवीण कुमार जैन सुपुत्र स्व. श्री नेमीसागर जैन
पूर्व अध्यक्ष, श्री जैन श्वे. तेरापंथी सभा, हांसी

मै. रतीराम पारसदास जैन
नई मंडी, हांसी (हरियाणा)
फोन : 01663-50241, 51393

मै. मित्तल कॉटन कम्पनी
नई मंडी, हांसी (हरियाणा)
फोन : 01663-35934, 36386

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

अप्रैल, 2001 वर्ष 49 अंक 4 रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
नय, अनेकांत और स्याद्वाद

13
सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन्
आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता

18
कुमार अनेकान्त जैन
अनेकांत का फलित नयवाद

22
प्रो. महावीर सरन जैन
भगवान महावीर की धर्म-क्रांति

•
आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

अनुभूति

29
सत्प्रेम
चैत्य का आविर्भाव

33
आचार्यश्री तुलसी
महावीर के सूत्र : समता और समन्वय

36
साध्वी संघमित्रा
निशस्त्रीकरण का मंत्र—अहिंसा

38
कहानी
वीरेन्द्रकुमार जैन
अप्प दीपो भव

42
कविता
रघुवीरसहाय की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अनेकांत : सामाजिक अभिप्राय

शीलन

45
विद्यानिवास मिश्र
पार्थिव धर्म

48
साध्वी विमलप्रज्ञा
सफलता का सूत्र—शम और श्रम

50
समणी सत्यप्रज्ञा
श्रमण कौन

52
बालकथा
डॉ. जाकिर हुसैन
छिद्दू की मैं-मैं

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

कुछ लोग कहते हैं कि सब विज्ञानों की बुनियादी एकता साफ दिखाई देती है और मजहबों के लड़ाई-झगड़े और फर्क भी उतने ही साफ नजर आते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि नए-नए विज्ञानों के रोज के नए-नए सिद्धांत, डाक्टरी की नई-नई दवाएं, नई-नई खोजों के नए-नए नतीजे बता रहे हैं कि विज्ञानों और विज्ञान वालों में भी कोई एकता नहीं। बात यह है कि जैसे मजहबों में तंगनजरी और कट्टरता होती है वैसे ही अपने ढंग की तंगनजरी और कट्टरता विज्ञानों में भी होती है। अंधविश्वास भी दोनों में होते हैं। राजनीति और कूटनीति की बांदी बन कर विज्ञान ने मजहब से अधिक मारकाट की है। पर यह सब झगड़े न सच्चे विज्ञान के नतीजे हैं और न सच्चे धर्म या मजहब के। इनमें कसूर न विज्ञान का है और न धर्म का। यह नतीजा है हमारे अंदर के शैतान, हमारी खुदी, हमारे स्वार्थ और हमारे अहंकार का। हम अपनी छोटी, झूठी और चंदरोजा गरजों के लिए विज्ञान और मजहब दोनों का गलत इस्तेमाल कर लेते हैं और दोनों को बदनाम करते हैं।

हर आदमी के अपने अंदर जो कुछ होता है वही वह बाहर देखना चाहता है, और जो वह चाहता है वही देख लेता है। जो एकता देखना चाहते हैं, उन्हें एकता दिखाई देती है और जो झगड़े देखना चाहते हैं उन्हें झगड़े दिखाई देते हैं। जो बेलाग होकर दोनों पहलुओं को देखना चाहते हैं, वे दोनों को देख लेते हैं। सचाई हमेशा दो पहलुओं के बीच होती है। सच यह है कि दुनिया की सब चीजों में बुनियादी बातों में एकता है और ऊपरी बातों में फर्क। जड़ एक और डाल-पत्ते अलग-अलग। यही बात विज्ञान की है और यही मजहब की। इस एकता को दर्शाना और चमकाना दर्शनशास्त्र यानी फलसफे और विद्वानों का काम है। कोई दो चेहरे एक-से नहीं होते। कोई दो दिमाग एक-से नहीं चलते। दुनिया नाम ही रंगारंगी और बहुरूप का है। फिर भी एक सीमा तक सब आदमी एक-से दिखाई देते हैं और एक तरह से सोचते हैं। नहीं तो न हम एक-दूसरे को समझ पाते और न मिलकर रह पाते। यह एकता ही हमारी आपसी हमदर्दी, मेलमिलाप और सारी सभ्यता की जड़ है। इसी इंसानी तहजीब को जिंदा रखने और आगे बढ़ाने के लिए सब मजहबों की बुनियादी एकता को देखना, समझना और सामने लाना जरूरी है।

—डॉ. भगवानदास

हिंसा और अहिंसा का सिद्धांत मोहाणुओं की सक्रियता और निष्क्रियता पर अवलंबित है। मोहाणु मनुष्य को पदार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं। उनकी मात्रा अधिक होती है तब वे आत्मा के सहजभाव को निर्जीव बना देते हैं। जीवन और भोग साध्य बन जाते हैं। उनके लिए हिंसा की जाती है। आपने स्वयं अनुभव किया होगा और अनेक लोगों को यह कहते सुना होगा कि बुराई को बुराई जानते हुए भी उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं। यह स्थिति मोहाणुओं की सक्रियता से बनती है। उनकी निष्क्रियता के लिए कठोर साधना अपेक्षित है। इसलिए व्यवहार की विशृंखलता के काल्पनिक भय से अहिंसा की यथार्थता को बदलने की आवश्यकता नहीं है। संसार किसी का भी साध्य नहीं होगा, सब लोग अहिंसा का आचरण करना चाहेंगे—यह तर्क हो सकता है, वस्तुस्थिति नहीं। दुःख कोई नहीं चाहता, यह आप और हम सब मानते हैं। अपराधी भी दुःख के लिए अपराध नहीं करता, पर उसका परिणाम सुख नहीं है। भोगी दुःख के लिए भोग नहीं करता, पर भोग का परिणाम सुख नहीं है। साध्य की प्राप्ति केवल मान्यता से नहीं किंतु आचरण की पूर्णता से होती है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

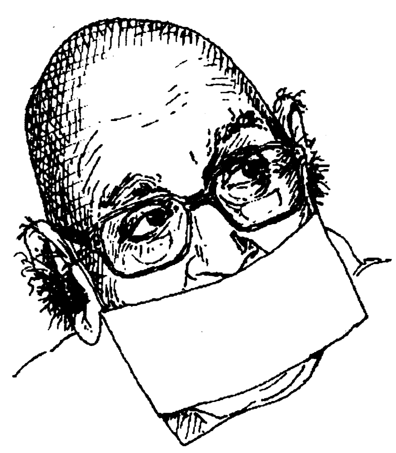

धर्म साधन है, साध्य है मोक्ष। मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए वह एक पहेली है। धर्म यद्यपि प्रत्यक्ष है, फिर भी उसका स्वरूप एक नहीं है, इसलिए वह भी एक जटिल पहेली है। यह सब लोग जानते हैं कि धर्म की आराधना के लिए संप्रदाय बनता है, संप्रदाय के विकास के लिए धर्म नहीं बनता। किंतु संप्रदाय की जड़ें सुस्थिर बन जाती हैं तब धर्म के लिए संप्रदाय नहीं रहता, संप्रदाय के लिए धर्म बन जाता है। आचार्य भिक्षु संप्रदाय के प्रवर्तक थे। फिर भी उनकी दृष्टि में धर्म और संप्रदाय एक नहीं थे। धर्म शाश्वत सत्य है। संप्रदाय उसकी एक व्याख्या है। उसकी एक आराधना है। आराधना करने वाला धर्म को पा सकता है, पर उसके लिए वह किसी कारागार का निर्माण नहीं कर सकता। इसी सत्य के आलोक में आचार्य भिक्षु ने कहा—'एक मिथ्या-दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का आराधक है और एक सम्यक्-दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का विराधक है।' इस नई दृष्टि के आधार पर आचार्य भिक्षु ने धर्म को संप्रदायमुक्त प्रमाणित किया।

—आचार्यश्री तुलसी

[भिक्षु अभिनिष्क्रमण दिवस, चैत्र शुक्ला नवमी (रामनवमी, वि.संवत् 1817) के अवसर विशेष पर]

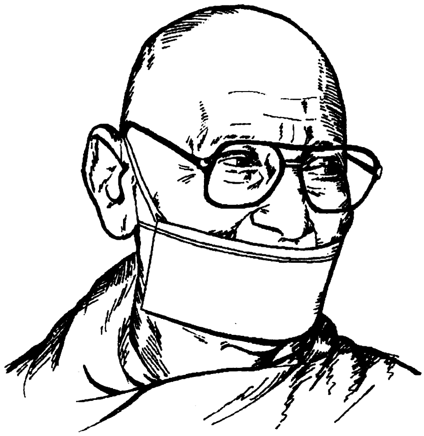

हम महावीर और राम को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। इनमें पहला अंतर प्रतीत होता है कि राम अवतार थे जबकि महावीर अवतार नहीं थे। महावीर श्रमण परंपरा के एक बहुत बड़े संत हुए हैं, तीर्थंकर हुए हैं। राम का चरित्र बहुत विशुद्ध रहा है। राम जहां कर्मवीर अवतार हैं, वहीं महावीर धर्मवीर पुरुष हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो धाराओं में राम प्रवृत्ति की धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि महावीर निवृत्ति की धारा का। राम के साथ शौर्य है, पराक्रम है।

गांधीजी से किसी ने पूछा—रामायण सही है या काल्पनिक है? गांधीजी ने उत्तर दिया—'यह मैं नहीं जानता, पर मैं रामायण से सही बना हूं।' यानी उस चरित्र को पढ़ने वाला सही आदमी बन जाता है। एक सही आदमी बनने के लिए सबसे बड़ी बात होती है—कर्म के प्रति निष्ठा और वचन की प्रामाणिकता। रघुकुल की रीति रही, प्राण भले ही चले जाएं पर प्रण नहीं जाता।

मूल बात है वचन की प्रामाणिकता की। उत्तररामचरित में लिखा है—'रामो द्विर्नाभिभाषते'—राम दो बार नहीं बोलते। जो कह दिया वह लोहे की लकीर है। फिर उसमें परिवर्तन नहीं होता। वचन की यह प्रामाणिकता दुर्लभ है।

अधिकार का विसर्जन कोई नहीं करना चाहता। बड़ी समस्या यही है। महावीर उससे मुक्त थे। हम महावीर को देखें तो उनका जीवन हमें निवृत्ति-प्रधान मिलेगा। उन्होंने कभी युद्ध नहीं किए, न कभी शस्त्र रखे। महावीर के पास तो धनुष भी नहीं था। वे जंगल में घूमते रहे, पर अकेले ही। उनका सारा लक्ष्य निवृत्ति-प्रधान था। निवृत्ति निकम्मी बात लग सकती है, किंतु यह निश्चित मानें कि निवृति के बिना प्रवृत्ति कभी अच्छी नहीं होती। कोरी निवृत्ति से जीवन नहीं चलता और यदि कोरी प्रवृत्ति है तो संघर्ष का कभी अंत नहीं होता।

राम और महावीर दोनों महापुरुषों का चरित्र उदात्त है। हमें एक आत्मा की ओर ले जाता है और एक ले जाता है समाज के स्वास्थ्य की ओर। समाज-व्यवस्था में राम के चरित्र को बहुत महत्त्व दिया जा सकता है।

हम गुणों को आत्मसात करने की आदत डालें, उनकी पुनरावृति करें, आवृति करें, अभ्यास करें तो मैं समझता हूं कि राम को समझने का, महावीर को समझने का हमारा प्रयास बहुत सार्थक होगा।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

[महावीर जयंती व रामनवमी के अवसर विशेष पर]

प्रसंग

अनेकांत : सामाजिक अभिप्राय

अनेकांत की तात्त्विक और दार्शनिक मीमांसा जितनी जरूरी है, किसी भी विचार के लिए यह जानना भी उतना ही आवश्यक है कि वे विचार सामान्य जन-जीवन के लिए कितने प्रासंगिक और व्यावहारिक सिद्ध होते हैं! इस दृष्टि से विचार करते हुए हमें यह देखना होगा कि हम किस परिवेश में जी रहे हैं। आज वैश्विक स्तर पर जो परिदृश्य प्रकटतः नजर आ रहा है, वही प्रभाव भारतीय जन-मानस पर भी स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। विश्व-ग्राम या 'ग्लोबल विलेज' की अवधारणा के निहितार्थ मानवीय गुणों के विकास में भले न प्रकट हो पाएं, पर इनकी अवनति से मुक्त रह पाना अवश्य कठिन है। आर्थिक विषमता, सामाजिक-सांस्कृतिक क्षरण जिस गति से बढ़ रहे हैं, उसे देखते यह कहना अब अतिरंजना नहीं कि आधुनिक विकास के इस दौर पर कोई ऐसा अंकुश नहीं रहा है जो पटरी से उतर रही मानवीयता को फिर से पटरी पर ला खड़ा करे। संचार-क्रांति ने असमानता और विषमता की खाई पाटने में तो कोई भूमिका अदा नहीं की, पर यह तो किया ही है कि दुनिया के किसी भी हिस्से में उपज रही विकृति से हम त्वरित रूप से दो-चार हो सकते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो दौर है—यह भौतिक विकास का दौर है और इस दौर में मानवोचित गुणों—करुणा, प्रेम, सौहार्द, परस्परता, सह-जीवन, समता-समानता के लिए कोई जमीन शेष नहीं बची है। इनके बरक्स हृदयहीनता, शोषण, संग्रह, स्व-केंद्रितता, खुदगर्जी, आपा-धापी, एकाधिकारिता, जैसी प्रवृत्तियां बढ़ी हैं। इन्हीं के चलते विश्वव्यापी आतंकवाद और उग्रवाद का अजगर भी पसरता जा रहा है।

यह विषम स्थिति सबको भयातुर और चिंतित करने वाली है, फिर भी इससे उबरने के उपाय करते हुए विश्व-कर्णधार विषमता के कारणों में गहरे नहीं उतरते। मिसाल के तौर पर दुनियावी स्तर पर बेरोजगारी-बेकारी और भुखमरी-निवारण के उपाय करते हुए साधनों के विस्तार की मायावी योजनाएं जब कागजों पर उतरती हैं तो उनमें दक्षता अवश्य दिखाई देती है, पर हकीकतन वे कितनी व्यावहारिक होती हैं—यह उनकी सफलता-असफलता के परिणामों से जान सकते हैं। तब असफलता के कारणों के ऐसे अकाट्य तर्कों का विलाप किया जाता है कि जैसे आयोजनाओं के बनने में तो कोई खामी नहीं, कोताही उनके क्रियान्वयन में ही रही हो। ऐसे निष्कर्ष भी तथाकथित आधुनिक विचारशीलों, मायावी आंकड़ों के भ्रमजाल फैलाने वालों के ही होते हैं, अन्यथा खामियां तो आयोजनाओं के शुरू में ही रहती हैं और उन पर सवालिया निशान भी उठते ही हैं।

दरअसल ये सवालिया निशान नीतिकारों के मध्य वैचारिक संघर्ष या भिन्नता, योजनाकारों के अपने आग्रहों और परिस्थितियों की जमीनी सचाई (कारण कुछ भी रहें) से मुकरने के नतीजे ही होते हैं।

इस 'प्रसंग' के प्रारंभ में ही जैसा कि कहा गया कि हमें अपने परिवेश पर दृष्टिपात करना जरूरी है, तो यह एक मोटी छवि है हमारे वर्तमान परिवेश की और इससे मुक्त होने की छटपटाहट इसी से जाहिर है कि हर व्यक्ति—अमीर-गरीब, सशक्त-निशक्त, समर्थ-असमर्थ, सभी जन संत्रस्त हैं, मर्माहत हैं।

अतः यह समीचीन और सामयिक है कि हम किसी ऐसी दृष्टि की तलाश करें जो इस संत्रास और मर्मांतकता पर मरहम-पट्टी का काम कर सके। हमारे सामने 'अनेकांत दृष्टि' है। इसके धार्मिक-आध्यात्मिक पहलुओं पर चर्चाएं हुई हैं। दार्शनिक स्तर पर शास्त्रीय और पांडित्यपूर्ण विमर्श भी हुए हैं और होते रहेंगे, पर अपनी परिवेश-जन्य स्थितियों और अभिप्रायों की कसौटी पर इसे ला खड़ा करने की भी आज निहायत जरूरत है। कहा जाना चाहिए कि यह हालात की ही अनिवार्यता है कि अनेकांत पर इस रूप में विचार हो कि हम जान सकें कि यह दर्शन हमें अपने सामाजिक सरोकारों के प्रति सचेत रखने की कितनी क्षमता रखता है और क्या आज की विषम स्थितियों से निजात पाने की कोई दिशा भी हमें अनेकांत से मिल सकती है ? कोई भी दर्शन या विचार इस दृष्टि से यदि समाज से संपृक्त नहीं रहता है तो एक समय में वह काल का ग्रास बन जाता है। भगवान महावीर ने 2500-2600 वर्ष पूर्व जिस सिद्धांत को प्रतिपादित किया—वह 'अनेकांत' अगर आज विश्व-स्तर पर विमर्श का निमित्त बना हुआ है तो हम यह मत तो तत्काल ही स्थापित कर सकते हैं कि 'अनेकांत' काल की अंधी घाटियों में गुम हो जाने वाला सिद्धांत नहीं माना जा सकता। अलबत्ता यह अवश्य माना जाएगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत जैन धर्म की हद में कैद करके ही देखा जाता रहा है। इस सिद्धांत के साथ यह अन्याय क्या केवल इसीलिए नहीं हुआ कि भगवान महावीर जैन धर्म के अधिष्ठाताओं में से रहे और चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठापित होकर भी कालांतर में केवल जैनियों के कहलाए !

हम अनेकांत के एक बिंदु की विवेचना पर आएं। इसकी शास्त्रीय व पांडित्यपूर्ण मीमांसा से बचते हुए और धार्मिक-आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए इसके सामान्य पहलुओं पर सोचें तो हम पाते हैं—अनेकांत 'अनाग्रह' का सिद्धांत है और हर विचार, दर्शन या सिद्धांत पर बिना किसी पूर्वाग्रह के सम्मानपूर्वक विमर्श की स्वतंत्रता देता है। आज आग्रहों-दुराग्रहों में रच-पच जा रहे समाज के लिए अनेकांत की यह दृष्टि समन्वय, सहिष्णुता और परस्परता का पाठ पढ़ाती प्रतीत हो रही है। हमारा यह परिवेश—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आग्रहों से भरा हुआ ही तो है, जिसने हमें खांचों-खांचों में विभाजित कर दिया है। न केवल विभाजित ही किया है, कहीं से आ रही श्रेयस् बात भी इसी वजह से अनसुनी और अविचारित रह जाती है। देखा जाए तो 'अनेकांत' का हस्र भी इसी संकीर्णता का परिणाम है, क्योंकि अनेकांत एक धर्म-विशेष और एक धर्म-विशेष के अधिष्ठाता की फलश्रुति है। दुर्भाग्य से धर्म के साथ भी तो उसके दुराग्रहपन, कठमुल्लापन और कट्टरपन के भय (बहुत अंशों तक सच) जुड़े हैं। भले कोई धर्म ऐसा न हो, भले कोई सिद्धांत या दर्शन ऐसे न हों—जैसे कि जैन धर्म और अनेकांत के सिद्धांत के बारे में यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि ये कठमुल्लापन और कट्टरपन से सर्वथा मुक्त हैं।

जैन धर्म और अनेकांत को इनसे मुक्त बताते हुए हमें इनके आधार तत्त्व और प्रमाणों की पड़ताल भी कर लेनी चाहिए। जैन धर्म का धरातल भारत-भूमि है, बेशक भारत से बाहर भी यह फैला है, फलवान होता जा रहा है। जहां कहीं हम जैनों या अनेकांतवादियों को देखें—पाएंगे कि तुलनात्मक रूप से वे अधिक सहिष्णु हैं, कम अनाग्रही हैं। दुराग्रह तो उनके निकट भी नहीं है। शोषण, विषमता, घृणा, वैमनस्य, अकरुणा जैनों में कम पाई जाएगी। इन विकृतियों को लेकर जहां कहीं भी अमानवीय कुछ घटा है तो उसमें जैनों की, अनेकांतवादियों की भागीदारी नगण्य ही मिलेगी।

हम यह भी कहना चाहेंगे कि जैन और अनेकांत ही क्यों, कई अन्य भी हैं जो इनसे मुक्त माने जा सकते हैं।

वस्तुतः आग्रही होने से ही कलह, अधीरता, कलुषता और ईर्ष्या-वैमनस्य का प्रवेश होता है। यहीं हिंसा और असत्य की संभावना पैदा होती है और अंततः समन्वय, उदारता और परस्परता का श्रेष्ठ मार्ग विखंडित होता है। तभी यथार्थ से च्युत होकर अयथार्थ की ओर आमुख होने की शृंखला बल पकड़ती है और तादात्म्यता नष्ट होने लगती है।

भारतीय संदर्भ में यदि हम अनेकांत पर दृष्टिपात करें तो कहना होगा कि अनेकांत ही यहां की भाव-भूमि है, अनेकांत ही यहां की रस-सलिला और आलोक रश्मियां हैं, क्योंकि विश्व में भारत ही एक देश है जहां विविध वर्ग,विविध धर्म, भाषा, वेश, जाति-समुदाय, रहन-सहन और खान-पान हैं। इतनी विराट विविधता 'अनेकांत' के बल पर ही टिकी हुई है—यह निर्विवाद स्वीकारोक्ति होनी चाहिए।

इसीलिए अनेकांत के सामाजिक अभिप्रायों पर गवेषणा की नितांत आवश्यकता है और शास्त्रज्ञों का यह दायित्व है कि वे इसके सामाजिक अभिप्रायों का खुलासा करें।

——शुभू पटवा

विमर्श

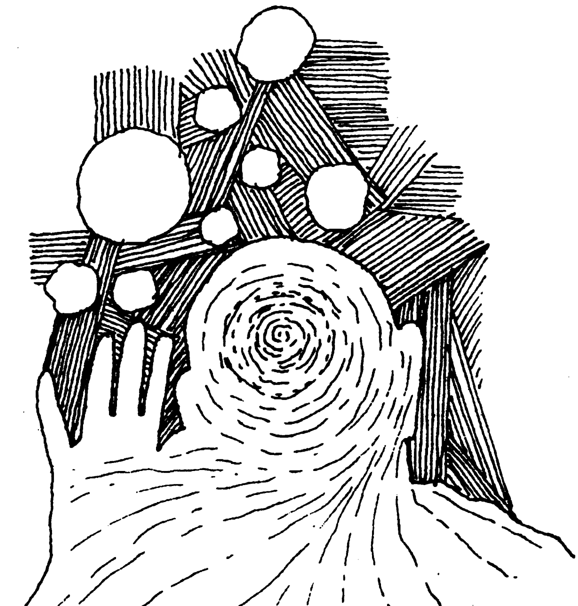

'विश्व धर्म का अर्थ मैं फिर क्या समझता हूं? कोई सार्वभौमिक दार्शनिक तत्त्व, कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्त्व या कोई सार्वभौमिक अनुष्ठान-पद्धति, जिसको मानकर सबको चलना पड़ेगा—मेरा अभिप्राय नहीं है। कारण, मैं जानता हूं कि तरह-तरह के चक्रसमवायों से गठित, बड़ा ही जटिल और आश्चर्यजनक इस विश्व का जो दुर्बोध और विशाल यंत्र है, वह सदा ही चलता रहेगा। फिर हम लोग क्या कर सकते हैं—हम इस यंत्र को अच्छी तरह चला सकते हैं, इसका घर्षणवेग कम कर सकते हैं—इसके चक्कों को चमकीला रख सकते हैं, उसमें तेल देते रह सकते हैं। वह कैसे? वैषम्य की नैसर्गिक अनिवार्यता को स्वीकार करके। जैसे हम सबने स्वाभाविक रूप से एकत्व को स्वीकार किया है, उसी प्रकार हमको वैषम्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। हमको यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अंदर प्रकृत सत्य है—हमको यह सीखना होगा कि किसी भी विषय को सैकड़ों प्रकार की विभिन्न दृष्टि से देखने पर वह एक ही वस्तु रहती है।'

—विवेकानन्द

अनेकांत को तत्त्वमीमांसा का सिद्धांत, स्याद्वाद को तार्किक सिद्धांत और नयवाद को ज्ञानमीमांसा का सिद्धांत भी बतलाया जाता है। यह धारणा दार्शनिक युग के आधार पर बनी हुई है। कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को तार्किक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है। वास्तव में अनेकांत, स्याद्वाद और नय—इन तीनों का संबंध तत्त्वमीमांसा से है। दार्शनिक युग में प्रमाण का विकास हुआ है, वह तार्किक सिद्धांत है। ज्ञानमीमांसा का संबंध मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से है।

नय, अनेकांत और स्याद्वाद

□ आचार्यश्री महाप्रज्ञ □

जैन दर्शन के तीन मूलभूत सिद्धांत माने जाते हैं—1. अनेकांतवाद, 2. स्याद्वाद 3. नयवाद। आगम युग में नयवाद प्रधान था। दार्शनिक युग अथवा प्रमाण युग में अनेकांतवाद और स्याद्वाद प्रमुख बन गए, नयवाद गौण हो गया। सिद्धसेन ने अनेकांत की परिभाषा नयवाद के आधार पर की है।

आगम युग में नय, अनेकांत और स्याद्वाद ऐसा विभाग नहीं था। यह विभाग दार्शनिक युग में हुआ। 'स्याद्स्त्येव' यह प्रमाण है। 'सत् अस्ति' यह नय है। 'सदैव' यह दुर्नय है।[1]

आगम युग में स्यात् का प्रयोग नय के साथ हुआ है। गौतम ने पूछा—भंते! जीव शाश्वत हैं या अशाश्वत?

महावीर—गौतम! जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है।

गौतम—भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है, जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है?

महावीर—गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत है, भाव की अपेक्षा से जीव अशाश्वत है।[2]

द्रव्य द्रव्यार्थिक नय का विषय है। भाव पर्यायार्थिक नय का विषय है।

एक दूसरे प्रसंग में कहा गया है—अव्युच्छित्ति नय की अपेक्षा शाश्वत है, व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा अशाश्वत है। अव्युच्छित्ति नय का प्रयोग द्रव्यार्थिक नय के लिए हुआ है। व्युच्छित्ति नय का प्रयोग पर्यायार्थिक नय के लिए हुआ है।[3]

माइल्लधवल ने इस विषय पर एक सटीक टिप्पणी की है—नय के बिना स्याद्वाद का बोध नहीं हो सकता। इसलिए जो एकांतवाद का निरसन करना चाहे, उसे नय का बोध अवश्य करना चाहिए।[4]

दार्शनिक युग में प्रश्न उपस्थित हुआ—नय के द्वारा वस्तु के एक पर्याय का ज्ञान और कथन होता है। उससे समग्र वस्तु का प्रतिपादन और कथन नहीं हो सकता। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रमाण और नय—ये दो विभाग किए गए। उमास्वाति ने अधिगम के दो साधन बतलाए—प्रमाण और नय। सिद्धसेन गणि ने इसकी व्याख्या में लिखा—

समस्त वस्तु के स्वरूप का परिच्छेद करने वाला प्रमाण और वस्तु के एक अंश का परिच्छेद करने वाला नय कहलाता है।[5] इसे स्पष्ट करने के लिए सकलादेश और विकलादेश की व्यवस्था की गई। प्रमाण सकलादेश है और नय विकलादेश।

हम नय, अनेकांत और स्याद्वाद को इस प्रकार निरूपित कर सकते हैं कि वस्तु के एक-एक पर्याय का बोध और कथन करने वाला नय, वस्तु के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों का बोध और प्रतिपादन करने वाला अनेकांत, ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में अपेक्षा के द्वारा समन्वय स्थापित करने वाला स्याद्वाद है। इनमें नय मूल है। अनेकांत और स्याद्वाद उनका समुच्चय है।

अनेकांत को तत्त्वमीमांसा का सिद्धांत, स्याद्वाद को तार्किक सिद्धांत और नयवाद को ज्ञानमीमांसा का सिद्धांत भी

बतलाया जाता है। यह धारणा दार्शनिक युग के आधार पर बनी हुई है। कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को तार्किक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है। वास्तव में अनेकांत, स्याद्वाद और नय—इन तीनों का संबंध तत्त्वमीमांसा से है। दार्शनिक युग में प्रमाण का विकास हुआ है, वह तार्किक सिद्धांत है। ज्ञानमीमांसा का संबंध मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से है।

'स्याद्वाद का संबंध भाषाई अभिव्यक्ति से है'—इस स्थापना में संशोधन आवश्यक है। स्याद्वाद और नय—ये दोनों श्रुतज्ञान के अंग हैं। श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ—दोनों प्रकार का होता है। वाक्य का प्रयोग केवल परार्थ के लिए किया जाता है। इसलिए स्याद्वाद का संबंध केवल वाक्य प्रयोग से नहीं है। वे ज्ञानात्मक और प्रतिपादनात्मक—दोनों प्रकार के होते हैं।

अपेक्षा का प्रयोग नय, अनेकांत और स्याद्वाद—तीनों के लिए किया जाता है, इसलिए अपेक्षा का संबंध केवल स्याद्वाद के साथ रूढ़ नहीं किया जा सकता।

वस्तु में अनंत गुणधर्म अथवा पर्याय होते हैं। इस सिद्धांत का संबंध तीनों कालों से है। वस्तु में एक साथ अनंत पर्याय वर्तमान होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तु में अनंत गुणधर्म हैं, यह योग्यता की दृष्टि से कहा जा सकता है। अगुरु लघु पर्याय अनंत हो सकते हैं। इस आधार पर वस्तु को अनंत पर्यायात्मक कहा जा सकता है।

वस्तु द्रव्य है, वह पर्याय से पृथक् नहीं है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों नयों का अनुसरण आवश्यक है। इन दोनों नयों का अनुसरण अनेकांत है।

अनेकांत की व्याख्या करने के लिए जैन दर्शन के कुछ मौलिक सूत्रों को समझना जरूरी है।

- सत् और असत्—ये भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हैं। सत् का एक अर्थ है अस्तिकाय, जो त्रैकालिक है। सत् कर दूसरा अर्थ है—वर्तमान पर्याय। यह परिवर्तनशील होता है।
- जैन दर्शन में सापेक्षवाद सार्वभौम नहीं है। अस्तिकाय निरपेक्ष है। सापेक्षता का सिद्धांत केवल पर्याय पर ही लागू होता है।

द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा सत् और असत् की जो व्याख्या है, वह पर्याय की व्याख्या है, अस्तित्व की व्याख्या नहीं है। छोटा, बड़ा—ये स्थूल पर्यायगत सापेक्षता के उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से अनेकांत के मौलिक स्वरूप की व्याख्या नहीं की जा सकती।

उमास्वाति ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को सत् बतलाया है। इनमें जो ध्रौव्य है, वह द्रव्य का अपरिवर्तनीय स्वरूप है।

उत्पाद-व्यय उसका पर्यायात्मक अथवा परिवर्तनीय स्वरूप है। इससे निरपेक्ष और सापेक्ष का सिद्धांत स्वतः फलित होता है। ध्रौव्य अपरिवर्तनीय है, इसलिए वह निरपेक्ष है। पर्याय परिवर्तनात्मक है, इसलिए वह सापेक्ष है।

अनेकांत का मूल प्रतिपाद्य है नित्यानित्यवाद। विश्व की व्याख्या तथा द्रव्य की व्याख्या केवल नित्य और केवल अनित्य के आधार पर नहीं की जा सकती। जैन दर्शन के अनुसार कोई द्रव्य नित्य और कोई अनित्य, यह विभाग नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का एक अंश है ध्रौव्य, इसलिए वह नित्य है। उसका दूसरा अंश है पर्याय, इसलिए वह अनित्य है। इस वास्तविकता को आचार्य हेमचंद्र ने इन शब्दों में व्यक्त किया—

आदीप माव्योमसम स्वभावम्, स्याद्वाद मुद्रा नति भेदिवस्तु।
तन्नित्य मेवैकमनित्यमन्य, दितित्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः।।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी कारण रूप में नित्य है, कार्यरूप में अनित्य है।[6]

इस प्रकार नित्यानित्य का सिद्धांत कुछ दर्शनों को मान्य है किन्तु वह सार्वभौम नियम नहीं है। वह विभाग रूप में मान्य है, जैसे—घट अनित्य है, आकाश सर्वथा नित्य है। दीपकलिका अनित्य है, आत्मा सर्वथा नित्य है।

जैन दर्शन के लिए नित्यानित्य का सिद्धांत सार्वभौम है। जैसे आकाश नित्यानित्य है, वैसे ही घट भी नित्यानित्य है। आकाश सर्वथा नित्य नहीं है। घट सर्वथा अनित्य नहीं है। आत्मा सर्वथा नित्य नहीं है, दीपकलिका सर्वथा अनित्य नहीं है।

नित्य और अनित्य की व्याख्या के लिए दो नयों का विधान किया गया—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। परमाणु के नित्यानित्यत्व के संदर्भ में पूछने पर भगवान महावीर का उत्तर था—परमाणु स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से वह शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से वह अशाश्वत है।

अस्ति और नास्ति—ये दोनों पर्याय हैं। विधि और निषेध का संबंध पर्याय के साथ है क्योंकि वह सामयिक है, त्रैकालिक नहीं है। अस्तिकाय त्रैकालिक है। उसके लिए

विधि-निषेध अथवा अस्ति-नास्ति जैसे पर्याय-द्योतक प्रयोग आवश्यक नहीं हैं।

सप्तभंगी का आधार भी पर्याय है। इसीलिए कहा गया—जितने पर्याय, उतनी सप्तभंगियां।[7] पर्याय अनंत हैं, इसलिए सप्तभंगियां भी अनंत हैं।

घट पुद्गल का एक पर्याय है इसलिए घट के विषय में सप्तभंगी की योजना की गई।

1. स्यादस्ति घटः—इस वाक्य में घट-संज्ञक पर्याय के होने का निर्देश है।
2. स्यान्नास्ति घटः—इस वाक्य में पट आदि घटेतर पर्याय न होने का निर्देश है।

प्रश्न उपस्थित होता है—'स्यान्नास्ति घट' दार्शनिक दृष्टि से यह वाक्य अनावश्यक है? एक साधारण आदमी भी जानता है—पट घट नहीं है और घट पट नहीं है। प्रश्न सहेतुक है। यदि घट पट नहीं है, इतना ही प्रतिपाद्य है तो 'स्यान्नास्ति घटः' इस वाक्य की निरर्थकता स्वतःसिद्ध है। 'स्यान्नास्ति घटः' इसका ऐदंपर्यार्थ यह है—घट और पट—दोनों का मूल कारण परमाणु पिंड है। परमाणु मूल द्रव्य है और वे दोनों परमाणु के पर्याय हैं। जिन परमाणुओं से घट का निर्माण हुआ है, वे ही परमाणु पर्याय परिवर्तन के पश्चात् पट का निर्माण कर सकते हैं इसलिए घट और पट के संरचक परमाणु सर्वथा भिन्न नहीं हैं। परमाणु वर्तमान और भावी पर्याय की अपेक्षा से वे कथंचित भिन्न हैं और स्वरूप की दृष्टि से कथंचित अभिन्न हैं। इस भेदाभेद की दार्शनिक दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए विधि-निषेध—दोनों का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यादस्ति घटः' इस वाक्य से घट की संरचना में प्रयुक्त परमाणु स्कंध की वर्तमान पर्याय का अवबोध हो रहा है। 'स्यान्नास्ति घटः' इस वाक्य में घट की संरचना में प्रयुक्त परमाणु स्कंध की भावी अवस्था के निषेध का अवबोध हो रहा है। इस दार्शनिक दृष्टि को ही जैन आचार्यों ने इस भाषा में प्रस्तुत किया था—घट स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से है; परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से नहीं है। इस वक्तव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझे बिना संभवतः स्याद्वाद के मर्म को नहीं समझा जा सकता।

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है, वस्तुवादी दर्शन है। व्यवहार नय की दृष्टि से प्रत्ययवादी दर्शन भी है। निश्चय नय की दृष्टि से सूरजमुखी के फूल में स्पेक्ट्रम के सभी वर्ण हैं। व्यवहार नय की दृष्टि से वह पीला है। हमें सूरजमुखी का फूल पीला दिखाई दे रहा है। यह प्रत्ययवादी दृष्टिकोण है। द्रव्य के समग्र रूप पर विचार करने का दृष्टिकोण प्रत्ययवादी है। अस्ति-नास्ति का प्रश्न प्रत्ययवाद से जुड़ा हुआ है।

सब द्रव्य एक रूप नहीं हैं और सब पर्याय भी एक रूप नहीं हैं। द्रव्य की सीमा का निर्धारण विशेष गुण के द्वारा किया जाता है। चैतन्य आत्मा का विशेष गुण है। वह केवल आत्मा में है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं है इसीलिए आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है। पर्याय की स्वतंत्रता भी सीमा-निर्धारण के आधार पर हो सकती है। 'स्याद् घटो नास्ति'—यह पर्याय की सीमा का निर्धारण है। यदि यह सीमा का निर्धारण न किया जाए तो घट सब-कुछ हो सकता है। 'स्यान्नास्ति घटः' इस वाक्य के पीछे एक अपेक्षा है कि घट आकार और कार्य की दृष्टि से पट से भिन्न है। किन्तु घट, पट से सर्वथा भिन्न नहीं है। घट भी परमाणु स्कंध का एक पर्याय है और पट भी परमाणु स्कंध का एक पर्याय है। दोनों का मूल कारण परमाणु है। स्यादस्ति और स्यान्नास्ति—ये दोनों सापेक्ष हैं। इसीलिए निरपेक्ष दृष्टि से अस्ति और नास्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती।

त्रिभंगी और सप्तभंगी

सप्तभंगी का मूल आधार त्रिभंगी है। यदि सर्वथा अभेद हो तो विधि और निषेध, दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। एक पर्याय से दूसरे पर्याय का भेद है इसीलिए विधि-निषेध और अस्ति-नास्ति का प्रयोग सार्थक है। अस्ति और नास्ति दोनों द्रव्य के पर्याय हैं। पूर्व पर्याय का व्यय हो रहा है और व्यय द्रव्य का एक पर्याय है। नए पर्याय का उत्पाद हो रहा है, उत्पाद भी द्रव्य का एक पर्याय है। अस्ति-नास्ति की संयोजना का आधार है उत्पाद और व्यय। उत्पाद और व्यय समकालिक हैं, इसलिए अस्ति और नास्ति में कालभेद नहीं है। जिस समय हम अस्ति कहते हैं, उस समय नास्ति भी विद्यमान है और जिस समय हम नास्ति कहते हैं, उस समय अस्ति भी विद्यमान है। एक साथ दो पर्याय ज्ञेय भी नहीं बनते और वक्तव्य भी नहीं बनते, इसलिए अवक्तव्य भंग बहुत सार्थक है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह वस्तु नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि दो पर्यायों को एक साथ जाना भी नहीं जा सकता और कहा भी नहीं जा सकता। इस विधि से ज्ञेय के भी तीन भंग बनते हैं और वक्तव्य के भी तीन भंग बनते हैं—

1. स्यादस्ति
2. स्यान्नास्ति
3. स्याद् अवक्तव्य

सप्तभंगी के शेष चार भंग संयोगज हैं। इन चार भंगों से केवल इतनी सूचना मिलती है कि यदि सांयोगिक पद्धति

अपनाएं तो चार भंग और बन सकते हैं। प्रोफेसर मेलेनिवस ने इस सप्तभंगी को सांख्यिकी (स्टेटिस्टिक्स) का मूल आधार माना है।

अनेकांत का सिद्धांत अतींद्रिय ज्ञान और इंद्रिय ज्ञान—दोनों के आधार पर विकसित हुआ है। द्रव्यार्थिक नय अतींद्रिय ज्ञान का विषय है और पर्यायार्थिक नय इंद्रिय ज्ञान का विषय है। पर्याय दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। इंद्रिय ज्ञानी सूक्ष्म पर्यायों को नहीं जान सकता, केवल स्थूल पर्यायों को जानता है। सिद्धसेन के अनुसार आत्मा आदि अमूर्त द्रव्य अहेतुगम्य हैं। उन्हें हेतु या तर्क के द्वारा नहीं जाना जा सकता। स्थूल पर्याय हेतुगम्य हैं। तर्क का आधार है व्याप्ति। व्याप्ति का नियम इंद्रिय ज्ञान और अनुभव के आधार पर बनता है। एक द्रव्य में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं, यह वक्तव्य हेतुवाद का है, तार्किक है। अस्तित्व का नियम हेतु या तर्क से परे है। उस नियम के अनुसार नित्य और अनित्य—दोनों सहभावी धर्म हैं, परस्पर विरोधी नहीं हैं। विरोध दो प्रकार का होता है—

1. वध्य-बधक
2. सहानवस्थान

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में सहानवस्थान है। इसलिए इनमें परस्पर विरोध नहीं है। ध्रौव्य उत्पाद-व्यय का प्रतिपक्ष है तथा उत्पाद-व्यय ध्रौव्य का प्रतिपक्ष है इसलिए भिन्न-भिन्न अवच्छेदकों के संदर्भ में सत् और असत्, नित्य और अनित्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। इनकी व्याख्या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आधार पर ही की जा सकती है।

घट पट नहीं है, यह अव्युत्पन्न मति वाले व्यक्तियों को समझाने के लिए स्थूल उदाहरण है। घट का नास्ति पर्याय पट-पर्याय सापेक्ष नहीं है किंतु स्वगत है। 'स्यादस्ति घटः' इस वाक्य का प्रयोग घट रूपात्मक पर्याय के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, किंतु घट के घटक परमाणु अतीत में किसी अन्य पर्याय के रूप में विद्यमान थे और भविष्य में वे किसी अन्य पर्याय के रूप में निर्मित होंगे। घट का पर्याय वर्तमान की अपेक्षा से है, भूत और भविष्य की अपेक्षा से वह नहीं है, इसलिए स्यादस्ति स्यान्नास्ति का संबंध अवच्छेदकत्व के साथ नहीं है और न कोई यह वाग्-जाल है। यह पर्याय के परिवर्तनशील स्वरूप को सूचित करने का सिद्धांत है। ❖

संदर्भ

1. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक 28
   सदैव सत् स्याद् सदितित्रिधार्थो, मीयेत दुर्नीतिनया प्रमाणैः।
   यथार्थदशी तु नयप्रमाणपथेन दुर्न्नीतिपंभ त्वमास्थः।।
2. भगवई, 7/58-59
   जीवाणं भंते! किं सासया? असासया?
   गोयमा! जीवा सिय सासया, सिय असासया।
   से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चई—जीवा सिय सासया?
   सिय अशासया?
   गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए
   असासया। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चई—
   जीवा सिय सासया सिय असासया।
3. भगवई, 7/93-94
   नेरइयाणं भंते! किं सासया? असासया?
   गोयमा! सिय सासया, सिय असासया।
   से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—नेरइया सिय सासया? सिय असासया?
   गोयमा! अव्वोच्छित्तिनयट्ठयाए सासया, वोच्छित्तिनयट्ठयाए असासया। से तेणट्ठेणं जाव सिय सासया, सिय असासया।
4. नय चक्र, गाथा 174
   जह्मा णएण विणा होइ ण णरस्य सियवायपड़िवत्ती।
   तह्मा सो बोहव्वो, एयंते हंतुकामेण।।
5. तत्त्वार्थ सूत्राधिगम, 1/6, प्रमाणनयैरधिगमः।
6. तर्क संग्रह, पृ. 5, तंत्र गंधवती पृथ्वी, सा द्विविधा नित्याऽनित्या च नित्या परमाणु रूपा अनित्या कार्यरूपा।
7. भगवई, 14

मूल्य सृजन से मानवीय आन-बान उभरती है। एक विद्वान का तो यहां तक कहना है कि मूल्य सृजन ही सर्वोच्च प्रकार की मानवीय प्रक्रिया है। मानवता के प्रांगण में, जीवन की अनंत मांगों को पूरा करने के लिए मूल्य सृजन की दिशा में हर किसी को अपनी-अपनी भूमिका निभानी पड़ती है। इस बुनियादी मानवीय संभावना को पूरा करने में शिक्षा बहुत कुछ कर सकती है।

—त्सुनेसाबुरो याकीगुची
(जापान के मेधावी शिक्षाकर्मी)

सच्चे अर्थों में धार्मिक-व्यक्ति का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा होता है, जिसमें धर्म-विश्वासों, धर्म-सिद्धांतों के मनोभावों या आधिदैविक तत्त्वों की बेड़ियां नहीं होतीं। यह उस आत्मा की वास्तविकता का प्रतिपादन करता है, जो काल और देश के ऊपर व्याप्त है। अपनी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के लिए इसकी यह सूक्ति होती है, 'जो भी कोई भला करता है, वह भगवान का है।' न्यायपूर्वक आचरण करना, सौंदर्य से प्रेम करना और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना, यही सबसे ऊंचा धर्म है।

आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता

□ सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् □

अप्रिय घृणाओं को समाप्त कर डालने के लिए आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता है। नई विश्व-व्यवस्था में उसे एकता और प्रेरणा प्रदान करने के लिए गहरे आध्यात्मिक आवेश का होना आवश्यक है। सामाजिक कार्यक्रम के लिए केवल वही बुद्धिसंगत आधार प्रदान कर सकता है। हमें, जैसा कि स्वर्गीय हेनरी बर्गसन ने कहा था, 'सारी मानव-जाति के सांझे उस परमात्मा की ओर देखना चाहिए, जिसकी केवल एक झलक मिलने का, यदि किसी प्रकार मनुष्य उसे पा भर सके तो, अर्थ यह होगा कि युद्ध का अविलंब समूलोच्छेद हो जाए।' जिस परमात्मा का संकेत बर्गसन ने किया है, उसकी झलक हम किस प्रकार पा सकते हैं? हम पाप और असारता से मुक्त होकर किस प्रकार उस भगवान को देखने की अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं, जो सबके लिए एक है? धर्म का आधार व्यक्ति के सारभूत मूल्य और गौरव का उद्घाटन और वास्तविकता के उच्चतर संसार के साथ व्यक्ति का संबंध है। जब मानव-प्राणी यह अनुभव करता है कि वह पाशविक प्रकृति की अपेक्षा उच्चतर एक वास्तविकता की व्यवस्था का अंश है, तो वह सांसारिक सफलता से या भौतिकवादी विज्ञान की विजयों से संतुष्ट नहीं हो सकता। उसमें अपने आदर्शों के लिए शहीद होने की क्षमता है, यह तथ्य इस बात का सूचक है कि मनुष्य शाश्वत वास्तविकताओं के संसार में रहता है और उन्हीं के लिए जीता है। पूजा मनुष्य का (दिव्य) ब्रह्म तक पहुंचने का प्रयत्न है। धर्म वह अनुशासन है, जो अंतरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है; काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है; नैतिक बल को उन्मुक्त करता है; संसार को बचाने के महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है। मन के अनुशासन के रूप में इस (धर्म) में उस बुराई का मुकाबला करने की कुंजी और सारभूत साधन विद्यमान हैं, जो सभ्य संसार के अस्तित्व के लिए खतरा बनी हुई है। इसमें हमारे विचार और आचरण को आत्मा के धर्मों का वशवर्ती बनाने की बात निहित है।

अतीत में धर्म जादू, टोने, नीमहकीमी और अंधविश्वास के साथ मिश्रित रहा है। उन धर्मसिद्धांतों को, जो किसी समय दिव्य जीवन की ओर ले जाने वाले मार्ग थे, पर आज रुकावट बने हुए हैं, मनुष्य और परमात्मा के बीच में रोक बनकर खड़े न होने देना चाहिए और आध्यात्मिक जीवन की सारभूत सरलता को नष्ट न करने देना चाहिए। धर्म को, जैसा कि इसके नाम से ही ध्वनित होता है, एक ऐसी संघटक, परस्पर बांधने वाली शक्ति होना चाहिए, जो मानव-समाज की सुदृढ़ता को और गहरा करती हो, भले ही उसके ऐतिहासिक स्वरूपों में अनेक स्पष्ट त्रुटियां रही हों। अपने तत्त्व-रूप में धर्म आध्यात्मिक अभियान के लिए आह्वान है। यह धर्म धर्म-विज्ञान (थियोलॉजी) नहीं है, अपितु धर्म का व्यवहार और अनुशासन है। आत्मा के दर्द की, जिसने अपने-आपको शाश्वत से पृथक् कर लिया है, यही एकमात्र औषध है। जब मानव-आत्मा इसके स्रोतों और इसकी शर्तों की अवज्ञा करती है, तब वह उन्मत्त और आत्मघाती बन जाती है। व्यक्ति और शाश्वत के बीच लुप्त हो गए संबंध को पुनः स्थापित करना ही धर्म का लक्ष्य है।

धर्म का सार उन धर्म-सिद्धांतों में और धार्मिक मतों में, विधियों में और संस्कारों में नहीं है, जिनसे हममें से अनेक

को विरक्ति होती है, अपितु युगों की गंभीरतम बुद्धिमत्ता में, अनवरत तत्त्वज्ञान में, सनातन धर्म में है, जो आधुनिक विचार की किंकर्तव्यविमूढ़ अस्तव्यस्तता में हमारा एकमात्र पथप्रदर्शक है। विभिन्न धर्म सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु सत्य के उन विभिन्न पक्षों और धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें लोग विश्वास करते रहे हैं। वे उस एक ही सत्य की विविध ऐतिहासिक अभिव्यक्तियां हैं, जो अपनी प्रामाणिकता की दृष्टि से सार्वभौम और सार्वकालिक हैं। सेंट आगस्टाइन कहता है, 'जिसे ईसाई धर्म कहा जाता है, वह प्राचीन लोगों में भी विद्यमान था, और मानव-जाति के प्रारंभ से लेकर ईसा के शरीर धारण करने के समय तक कोई वक्त ऐसा नहीं रहा, जब इसका अस्तित्व न रहा हो; ईसा के आगमन के बाद सच्चे धर्म को, जो पहले से ही विद्यमान था, ईसाई धर्म कहा जाने लगा।'

इस सृजनशील प्रसव-पीड़ा के काल में, अपने कष्ट-सहन की गंभीरता के कारण भी, भारत को यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह संसार के लिए प्रकाश बन सके, सार्वभौम महत्त्व के एक संदेश का वाहक बन सके। भारत कोई जातीय व्यक्तित्व नहीं है, क्योंकि जातीय भवितव्यता बनावटी है। विशुद्ध जातीय रूप तो नृविज्ञान की आदर्श कल्पनाएं-भर हैं। वास्तविक जीवन में ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त कर पाना सरल नहीं है, जिनमें किसी एक ही जाति की सब विशेषताएं एकत्र विद्यमान हों। सभी जगह मनुष्यों में विभिन्न जातियों की विशेषताएं मिली-जुली मिलती हैं, यहां तक कि एक ही परिवार के सदस्यों में भी एक ही जाति की विशेषताएं शायद ही कहीं दीख पड़ती हों। भारतीय संस्कृति जातीय दृष्टि से एकदेशीय नहीं है, अपितु इसने सब जातियों के लोगों को प्रभावित किया है। अनुभूति और उद्देश्य की दृष्टि से यह अंतरराष्ट्रीय है। भारत के प्रतीकरूप धर्म हिंदुत्व में यही भावना विद्यमान है; वह भावना, जिसमें इतनी असाधारण जीवनी-शक्ति है कि वह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के बाद भी बची हुई है। जब से भी इतिहास का अभिलेख उपलब्ध है, तभी से वह आत्मा की पवित्र ज्वाला का साक्ष्य प्रस्तुत करता रहा है, वह ज्वाला सदा, तब भी जब कि राजवंश नष्ट होते हों और साम्राज्य टूटकर खंडहर बनते हों, विद्यमान रहेगी। केवल यही पवित्र ज्वाला हमारी सभ्यता को आत्मा और नर-नारियों को जीवन का एक सिद्धांत प्रदान कर सकती है।

मनुष्य में एक, न केवल जीने की, अपितु गौरव के साथ जीने की तत्त्वगत (मौलिक) आकांक्षा विद्यमान है। जब हमारे इस गौरवपूर्ण जीवन के आवेश को ब्रह्मांडीय समर्थन प्राप्त हो जाता है, तब हमारे अंदर एक विशिष्ट प्रकार का धार्मिक उत्साह भर उठता है। ऐसा व्यक्ति कोई भी नहीं है, जिसके मन में कभी न कभी ये आधारभूत प्रश्न न उठे हों—मैं क्या हूं? मेरा मूल कहां है? मेरी भवितव्यता क्या है? इसके अतिरिक्त हमें इस विश्व के रहस्य पर विस्मय की अनुभूति होती है, इसकी सुव्यवस्थितता में विश्वास होता है; हमें चिरकाल से बनी आ रही पहेलियों के उत्तरों की अंतहीन खोज है और वस्तुओं की सचाई को खोज निकालने की अधीरतापूर्ण लालसा है; उस सचाई को, जो इस अर्थ में सार्वभौम और परम है कि वह सब मनुष्यों के लिए, सब देशों और कालों के लिए प्रामाणिक है। रहस्यमय का अनुभव सब धर्मों के मूल में विद्यमान आधारभूत गुण है। गेटे कहता है, 'विचारक के रूप में मनुष्य का सबसे बड़ा आनंद यह है कि जिसकी थाह पाई जा सकती है, उसकी थाह पा ली जाए, और जिसकी थाह नहीं पाई जा सकती (अथाह), उसके सम्मुख श्रद्धा से सिर झुका दिया जाए।' कुछ ऐसे तथ्य और मान्यताएं (जीवन-मूल्य) हैं जिनकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। हम यह नहीं जानते कि इस संसार का अस्तित्व किसलिए है और मान्यताओं के जगत के साथ, जो देश और काल के संसार की अपेक्षा कम वास्तविक नहीं है, इसका क्या संबंध है? यदि हम मानवीय तर्कबुद्धि की इन सीमाओं को पहचान सकते हैं और उन्हें स्वीकार कर सकते हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि हमारे अंदर एक आत्मा है, जो तर्कबुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है; वही तर्कबुद्धि को अपने उपकरण (साधन) के रूप में प्रयुक्त करती है। इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्मा तो वस्तुतः वह समूचा व्यक्तित्व है, जो अपने उच्चतर अंश के पथ-प्रदर्शन में कार्य करती है और जब आत्मा कार्य करती है, तब हमें परमात्मा का दर्शन होता है। यद्यपि बौद्धिक प्रवृत्ति मानवीय मन के लिए स्वाभाविक (नैसर्गिक) है, परंतु इसकी सुस्पष्ट भवितव्यता तो इसकी अवयवभूत (मुख्य) ही है। कभी न कभी हममें से प्रत्येक ने अवैयक्तिक आनंद के उन क्षणों का अनुभव किया होगा, जब ऐसा लगता है कि हम इस स्थूल पृथ्वी पर नहीं चल रहे, अपितु हवा में उड़ रहे हैं, जब हमारा सारा अस्तित्व एक ऐसे सान्निध्य से ओतप्रोत हो उठता है जो अवर्णनीय होते हुए भी अनुभूतिगम्य है, जब हम एक अपार्थिव (दिव्य) वातावरण में स्नान कर रहे होते हैं, तब हम परम आनंद की सीमाओं तक को स्पर्श कर लेते हैं जहां पहुंचकर स्वार्थ-साधना और अतृप्त लालसाएं उपलब्धि और प्रशांतता के सम्मुख घुटने टेक देती हैं। इस प्रकार के अंतर्दृष्टि के क्षण और आनंद की मनोदशाएं व्यक्तित्व को

ऊंचा उठाने वाली, विस्तार प्रदान करने वाली, गहराई तक ले जाने वाली और समृद्ध बनाने वाली होती हैं और फिर भी वे उसका विश्व के साथ एकात्म्य स्थापित करती हैं। चूर-चूर कर देने वाली गहराई के और तीव्र उल्लास के इन अनुभवों में, जबकि हम पंखों द्वारा ऊपर उठकर वास्तविकता को स्पर्श करने लगते हैं, जब हम प्रकाश से भर उठते हैं और आत्मा के सान्निध्य के वातावरण से भर उठते हैं, हमारा मन आश्चर्यजनक स्पष्टता से भर जाता है और हम अपने आपको एक मित्रतापूर्ण विश्व का अंग अनुभव करने लगते हैं। जिनके चरित्र और सत्यनिष्ठा पर कोई आक्षेप किया ही नहीं जा सकता, ऐसे लोगों ने बड़े गंभीर शब्दों में बताया है कि किस प्रकार उनका सारा अस्तित्व ही रूपांतरित हो गया। आत्मा ही उनका जीवन, प्रकाश और आनंद है। उनका संपूर्ण स्वभाव अनुसंधान की गतिविधि है, ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न है। वे तो अपनी आत्मा की शांति में रह रहे होते हैं, परंतु उनके शरीर जीवनी-शक्ति से प्रबल और अविलंब्य होते हैं।

धर्म का मूल एक प्रकार की विस्मय की अनुभूति में और स्वयं जीवन के शाश्वत रहस्य में, इसकी चारुता और शक्ति में जब हम किसी तृप्तिदायक वस्तु को प्राप्त करते हैं, तब होने वाले परम उल्लास के अनुभव में है और इनके अभाव में मनुष्य मृतक सदृश है। 'अरी गार्गी, जो इस 'अविनश्वर' को बिना जाने इस संसार से प्रयाण कर जाता है, वह दरिद्र है, दया का पात्र है; दूसरी ओर, जो कोई इस 'अविनश्वर' का ज्ञान प्राप्त करके इस संसार से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है।' और फिर, 'यदि हम उसका ज्ञान यहीं प्राप्त कर लें, तब तो जीवन सफल है; पर यदि हम उसे यहां न जान पाएं, तो यह महान विपत्ति है।' यदि मानव-जीवन शाश्वत के साथ संपर्क स्थापित करने की अदम्य लालसा से प्रेरित न हो, तो उस जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं है। प्लौटिनस कहता है, 'इसके लिए, वह सर्वोच्च 'सौंदर्य', वह परम और मूल सौंदर्य, अपने प्रेमियों को सौंदर्य के अनुकूल गढ़ता है और उन्हें प्रेम के योग्य भी बनाता है और इसके लिए आत्माओं के सामने कठोरतम और चरम संघर्ष प्रस्तुत किया जाता है; हमारा सारा श्रम इसी के लिए है कि कहीं हम इस सर्वश्रेष्ठ झलक का कुछ भी अंश पाए बिना न रह जाएं, जिसे प्राप्त करना आनंदमय दृष्टि में धन्य होना है और जिसे प्राप्त करने में असफल रहना चरम असफलता है। क्योंकि जो व्यक्ति रंगों और दीख पड़ने वाले रूपों से मिलने वाले आनंद को पाने में असफल रहता है, शक्ति और सम्मान पाने में असफल रहता है, वह असफल नहीं है; अपितु केवल वह असफल है जो 'इस' आनंद को पाने में असफल रहता है, जिसे पाने के लिए उसे राज्यों को भी त्याग देना चाहिए।'

जब तक उस 'सर्वोच्च' (परमेश्वर) की झलक न मिले, तब तक जीवन अपूर्ण रहता है। आत्मा की भी ठीक वैसी ही आंखें हैं, जैसी शरीर की हैं; उन आंखों से वह परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है और परम पूर्णता से, जो परमात्मा है, प्रेम करना सीखती है। 'जैसे आंख आकाश को देखती है, वैसे ही साधक लोग परमात्मा के उच्चतम निवास स्थान को सदा देखते हैं।' इस प्रकार के अनुभव मानव-परिवार की सभी शाखाओं में होते रहे हैं, यद्यपि विभिन्न कालों में और विभिन्न जातियों में उनकी व्याख्याएं अलग-अलग ढंग से होती रही हैं। मूसा आवेश में कह उठता है, 'शाश्वत परमात्मा ही मेरा आश्रय है और नीचे अनंत बाहें हैं।' साम (ईसाई भजन, स्तोत्र)—लेखक भी इसी प्रकार के, शाश्वत निवास में ले जाए जाने के, और उस 'एक' के साथ, जो पर्वतों के जन्म से भी पहले, संसार की रचना से भी पहले विद्यमान था, साहचर्य के अनुभव की चर्चा करता है। आत्मा का संसार प्लेटो के दर्शन का एक आवश्यक अंग है। उसकी दृष्टि में यह आत्मजगत ही सत्य, शिव और सौंदर्य का आधार और आश्रय है। मानवीय मन केवल भौतिक तत्त्व के संसार तक ही सीमित नहीं है, इसे वास्तविकता के लोकोत्तर और अतींद्रिय क्षेत्र के साथ घनिष्ठ संपर्क तक ऊंचा उठाया जा सकता है। सेंट पाल लिखता है, 'भले ही हमारा बाह्य मनुष्य नष्ट हो जाए, फिर भी हमारा आंतरिक मनुष्य दिनोदिन नया, और नया होता जाता है....। हम उन चीजों की ओर नहीं देखते, जो दिखाई पड़ती हैं, बल्कि उन चीजों की ओर देखते हैं, जो दिखाई नहीं पड़तीं; क्योंकि जो चीजें दिखाई पड़ती हैं, वे क्षणभंगुर हैं और जो चीजें दिखाई नहीं पड़तीं, वे शाश्वत हैं।' प्लौटिनस (ईस्वी सन् 207-270) कहता है, 'कई बार ऐसा हुआ कि मैं अपने शरीर से बाहर, ऊपर उठाकर अपनी आत्मा में पहुंचा दिया गया; इस प्रकार मैं अन्य सब वस्तुओं से पृथक् होकर आत्मकेंद्रित हो गया; मुझे अद्‌भुत सौंदर्य के दर्शन हुए; मुझे पहले किसी भी समय की अपेक्षा एक उच्चतम व्यवस्था के साथ सम्मिलन का विश्वास हुआ; मुझे दिव्य सत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्त हो गया।' 'एक बार वहां पहुंचकर आत्मा इस अनुभव का विनिमय विश्व की किसी भी वस्तु से करने को तैयार नहीं होगी; यहां तक कि यदि उसे संपूर्ण नक्षत्रों समेत आकाश-मंडल दे दिया जाए, तो उसके बदले भी वह इस अनुभव को छोड़ने को तैयार नहीं होगी; इस अनुभव से बढ़कर उच्चतर और उत्कृष्टतर वस्तु और कुछ नहीं है। इससे और ऊपर

जाना हो ही नहीं सकता।' आगस्टाइन ने अपनी दोष-स्वीकृतियां इन स्मरणीय शब्दों से प्रारंभ कीं, 'हे प्रभु, तूने हमें अपने लिए बनाया है और जब तक हम तुझमें पहुंचकर शांति प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हमारे हृदय अशांत रहते हैं।' उसके लेखों में ऐसे अनेक संदर्भ हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि अपने जीवन के महान क्षणों में वह 'उस' तक पहुंच गया था, जो 'एक कौंध में, एक छलांग में उस शाश्वत बुद्धिमत्ता को स्पर्श कर लेता है, जो अनंतकाल स्थाई है' और जो स्वयं वह बुद्धिमत्ता है। मुहम्मद ने जोर देकर कहा था कि परमात्मा सचमुच है, इस बात को सिद्ध करने हेतु अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। उसके अपने इस अनुभव की, कि 'परमात्मा मेरी अपनी गर्दन की नस से भी मेरे ज्यादा नजदीक है।' गवाही ही इसके लिए काफी है। सेंट टामस ऐक्वाइनास को एक उल्लेखनीय अनुभव हुआ था। जब वह नेपल्स में मास (ख्रीष्ट याग, यज्ञ) कर रहा था, तब उसने अपनी कलम और दवात एक ओर रख दी और उसके बाद अपने अपूर्ण ग्रंथ 'सम्मा थियोलौजिका' का एक शब्द भी आगे नहीं लिखा। उससे अपने इस महान ग्रंथ को पूर्ण करने को कहा गया, तो उसने उत्तर दिया, 'मैंने उसके दर्शन कर लिए हैं, जिसके कारण मैंने जो कुछ लिखा है और उपदेश दिया है, वह मुझे तुच्छ लगने लगा है।' जब एक शिष्य ने बगदाद के सूफी रहस्यवादी साधक जनैद से कहा, 'मैंने सुना है कि आपके पास दिव्यज्ञान का मोती है; आप उसे मुझे दे दीजिए, या बेच दीजिए।' जनैद ने उत्तर दिया, 'मैं वह मोती तुम्हें बेच नहीं सकता, क्योंकि तुम्हारे पास चुकाने के लिए उसकी कीमत नहीं है; और यदि मैं तुम्हें वह यों ही दे दूं, तो तुम उसे बहुत सस्ते में पा रहे होगे और तुम्हें उसके मूल्य का पता ही नहीं चलेगा। मेरी तरह तुम इस (परमात्मा के) समुद्र में सिर के बल कूद पड़ो, जिससे कि तुम स्वयं ही उस मोती को पा सको।' जब हम उस वास्तविक का स्पर्श करते हैं, तो हम,

> परमात्मा में लीन हो जाते हैं जैसे प्रकाश प्रकाश में; हम उड़ते हैं
>
> स्वेच्छा से एक होकर।

धार्मिक अनुभूतियां उतनी ही पुरातन हैं, जितना मुस्कराना और रोना, प्यार करना और क्षमा करना। परमात्मा की अनुभूति कई ढंगों से होती है, प्रकृति के साथ घनिष्ठ संपर्क द्वारा, अच्छाई की पूजा द्वारा और सूर्यास्त के स्पर्श,

> फूलों की घंटी की कल्पना, किसी की मृत्यु
>
> यूरीपिडीज के किसी नाटक की सम्मिलित-गानमय समाप्ति द्वारा।

यह अनुभूति जीवन के शनैः-शनैः उच्चतर होते जाने से लेकर परमात्मा में भाव-समाधि की तीव्रतम कोटि तक अविराम व्याप्त रहती है।

विचारों की कोई भी गंभीर साधना, विश्वासों की कोई भी खोज, सद्गुणों के अभ्यास का कोई भी प्रयत्न, ये सब उन ही स्रोतों से उत्पन्न होते हैं, जिनका नाम धर्म है। मन द्वारा सौंदर्य, शिवत्व और सत्य की खोज परमात्मा की ही खोज है। माता के स्तनों का दूध पीता हुआ शिशु, असंख्य तारों की ओर निहारता हुआ अशिक्षित जंगली, अपनी प्रयोगशाला में सूक्ष्मवीक्षण के नीचे जीवन का अध्ययन करता हुआ विज्ञानवेत्ता, एकांत में संसार के सौंदर्य और करुणा का चिंतन करता हुआ कवि, तारा-आलोकित आकाश के, उच्च हिमालय के या प्रशांत समुद्र के सम्मुख, या इन सबसे बढ़कर चमत्कार एक ऐसे मनुष्य के सम्मुख, जो महान भी है और अच्छा भी, श्रद्धापूर्वक खड़ा हुआ एक साधारण मनुष्य, इन सबमें एक अस्पष्ट-सी शाश्वत की भावना और स्वर्ग के लिए संवेदना विद्यमान है।

सच्चे अर्थों में धार्मिक-व्यक्ति का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा होता है, जिसमें धर्म-विश्वासों, धर्म-सिद्धांतों के मनोभावों या आधिदैविक तत्त्वों की बेड़ियां नहीं होतीं। यह उस आत्मा की वास्तविकता का प्रतिपादन करता है, जो काल और देश के ऊपर व्याप्त है। अपनी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के लिए इसकी यह सूक्ति होती है, 'जो भी कोई भला करता है, वह भगवान का है।' न्यायपूर्वक आचरण करना, सौंदर्य से प्रेम करना और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना, यही सबसे ऊंचा धर्म है। यह अनुभव किसी एक जाति या एक जलवायु (प्रदेश) तक ही सीमित नहीं है। जब भी कभी आत्मा, किसी भी देश में या किसी भी जाति की सीमाओं में, अपने वास्तविक रूप में आती है, जब भी कभी यह अपनी आंतरिक गहराइयों में केंद्रित हो उठती है, जब कभी इसकी अनुभूतिशीलता पर अपने आसपास के गंभीरतर जीवन की धाराओं का प्रतिभावन (रिस्पौंस) होता है, तब यह अपनी सच्ची प्रकृति को प्राप्त होती है और आनंद के साथ, रोमांचकारी उल्लास के साथ पर-आत्मा के जीवन में रहने लगती है। जिसकी चेतना सर्वोच्च आत्मा में, बुद्धि और आनंद के अपार समुद्र में लीन हो गई, उसे जन्म देकर माता सफल-मनोरथ हो जाती है, परिवार पवित्र हो जाता है और उससे सारी पृथ्वी पुण्यवती हो उठती है।

जो संसार अधिकाधिक गंभीर शोकांत विपत्ति में भटक रहा है, उसकी मुक्ति किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं हो सकती। मानव-जाति के विस्तृत जगत की सब प्रमुख

आध्यात्मिक सामग्रियों का मूल आधार मानव-जाति की वास्तविक, आत्मिक एकता की स्वीकृति (मानना) है; एक ऐसी एकता, जिसका, व्यक्ति अपनी प्रकृति की गहराई में, अन्य किसी भी अनुभूतिमूलक समाज की अपेक्षा अधिक अंग है। उन व्यावहारिक रोकों का जो हमें एक-दूसरे से पृथक् करती हैं, अस्तित्व उससे गहरे स्तर पर पहुंचकर समाप्त हो जाता है। यदि हम आध्यात्मिक वास्तविकता में केंद्रित हो जाएं, तो हम लोक और भय से, जो हमारे अराजक और प्रतियोगितात्मक समाज के आधार हैं, मुक्ति पा जाते हैं। इसे एक ऐसे मानवीय समाज के रूप में परिवर्तित करने के लिए, जिसमें हर व्यक्ति की भौतिक और मानसिक उन्नति की व्यवस्था हो, हमें अपनी चेतना का विस्तार करना होगा, अपनी चेतनता को बढ़ाना होगा, जीवन के उद्देश्य को पहचानना होगा और उसे अपने कामों में अपनाना होगा। चेतना का यह विस्तार, चेतनता की यह वृद्धि सरल नहीं है। यह जान लेना कि वास्तविकता हमें दिखाई नहीं पड़ रही है और यह कि हम अंधे हैं, और अपने अंधेपन में जो कुछ हमें प्रतीत होता है, उसी को हम वास्तविकता समझ लेते हैं, आसान है। परंतु उस अंधेपन का इलाज करने के लिए और सच्ची दृष्टि पाने के लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है। हमें चेतना को लोभ और भय के विकार से, अहंकार के मोह से मुक्त करना होगा; और जब हममें पवित्रता और एकाग्रता आ जाती है, तब हम परिवर्तित हो जाते हैं। हम वही हो जाते हैं, जो कुछ हम देखते हैं और हमारी प्रकृति नई हो जाती है, हम संसार के स्वरूप और प्रयोजन को समझने लगते हैं, और इस संसार में उस रीति से जीवन-यापन करने में समर्थ होते हैं, जिस रीति से परमात्मा चाहता है कि हम जीवन बिताएं। संपूर्ण सृष्टि का उद्देश्य मानव-जीवन का विकास करना है, मनुष्य का पुनर्निर्माण। मानव-प्रकृति को बदले बिना हम मानव-जीवन और मानव-समाज को बदल पाने की आशा नहीं कर सकते। रिक्त धारणाओं और साभिलाष कल्पनाओं के संबंध में औरंगजेब की चुटीली टिप्पणी के बावजूद कवि के आलोक और दार्शनिक के आदर्श की आवश्यकता है। कवि और दार्शनिक आत्मा को गति देने वाली शक्तियों के प्रति सचेत रहकर हमारे लिए इस संसार के अंदर ही एक परिष्कृततर संसार की झलक को सुरक्षित बनाए रखते हैं।

आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के रहन-सहन के ढंग में आमूल परिवर्तन किया जाए। हम भविष्य को केवल उतनी ही सीमा तक निरापद (सुरक्षित) बनाने में सहायता दे पाते हैं, जिस सीमा तक हम अपने-आपको बदल पाते हैं। यह आत्मपरिवर्तन स्वतः नहीं हो जाता। यह उस साभिप्राय आदर्श के प्रति प्रतिभावन (रिस्पौंस) है, जो हमें इतिहास में दिखाई पड़ता है। यह आत्मा का वास्तविकता के वशवर्ती होना है। यही धर्म का आचरण है। भारत के रहस्यवादी धर्म की ही नए विश्व का धर्म बनने की संभावना है, जो सब मनुष्यों को राष्ट्रीय सीमाओं के पार भी एक सांझे केंद्र की ओर खींच सकेगा। भारत के इस रहस्यवादी धर्म का कथन है कि आध्यात्मिक वस्तुएं वैयक्तिक हैं और हमें उन्हें अपने जीवन में प्रतिबिंबित करना चाहिए; इसके लिए यह आवश्यक है कि हम वास्तविक को प्राप्त करने के लिए सांसारिक विषयों से विमुख हो जाएं और नई ऊर्जा तथा संकल्प के साथ इतिहास के जगत की ओर लौट पड़ें। ❖

अनंत रूपों की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नहीं। अतः उसके निकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो स्थूल जगत में भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अंतर्जगत पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसके निकट अपने-आपको पूर्ण रूप से निवेदित करके संतोष का अनुभव करता है, वह सौंदर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि से सबको विशिष्ट जान पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं। प्रायः एक के अटूट स्नेह, भक्ति का आधार, दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और साधारण रूप में उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलंबन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अंतर्जगत में जो कुछ भव्य छिपाए हुए है, वह जिसमें प्रतिबिंबित जान पड़ता है, उसके निकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परंतु यह आत्मनिवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पण से भिन्न है, क्योंकि लालसा अंतर्जगत के सौंदर्य की साकारता नहीं देखती, किसी स्थूल अभाव की पूर्ति पर केंद्रित रहती है।

—महादेवी वर्मा

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सर्वज्ञता के अभाव में एक साधारण व्यक्ति एक समय में वस्तु के समस्त धर्मों का, उसके संपूर्ण स्वरूप का अवलोकन कर सकता है? क्या कोई ऐसी व्यवस्था है जिससे मानव प्रयोजन के अनुरूप वस्तु के एक-एक धर्म को क्रमशः समझे, अभिव्यक्त करे तथा उसका निरूपण कर सके? बुद्धि की भी अपनी सीमा है, शब्दों की भी अपनी सीमा है। शब्द भी अपने-आपमें निश्चित कुछ अर्थों के अलावा अधिक कुछ भी नहीं कह सकते। ऐसे समय में ऐसी कौन-सी विद्या है जिससे हम अपना प्रयोजन भी साध लें और एकांतवाद के दूषण से भी बच जाएं?

अनेकांत का फलित नयवाद

□ कुमार अनेकान्त जैन □

भगवान महावीर का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'अनेकांत' था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर तक वस्तु का स्वरूप अनेकांत शैली में ही समझाया गया। वस्तु के अनेक धर्मात्मक जटिल स्वरूप का प्रतिपादन किसी एक दृष्टि द्वारा अशक्य होने के कारण इसकी कथन पद्धति में भी विचित्रता का रहना स्वाभाविक है, क्योंकि एक ही स्थान में विरोधी धर्मों की सत्ता सरलता से सिद्ध नहीं की जा सकती और न समझी जा सकती है। इसे कहने व समझने के लिए बड़े धैर्य, सहिष्णुता, प्रतिभा एवं संयम की आवश्यकता है।[1] अनंत धर्मात्मक होने से वस्तु को अनेकांत स्वरूपी कहा जाता है और इसी अनेकांत स्वरूपी वस्तु को समझने के लिए स्याद्वाद और नयवाद का सहारा लिया जाता है। वाई. जे. पद्मराजै लिखते हैं—

अनेकांत जैन तत्त्वमीमांसा का हृदय है और नयवाद और स्याद्वाद इसकी प्रमुख धमनियां। रूपक की भाषा में कहें तो अनेकांतरूपी पक्षी नयवाद और स्याद्वादरूपी दो पंखों के सहारे उड़ता है।[2]

अनेकांत का सिद्धांत

एक ही वस्तु में अनेक धर्मों का रहना 'अनेकांत' है।[3] यहां वस्तु में अनेक धर्म ही नहीं रहते बल्कि परस्पर विरुद्ध धर्म भी रहते हैं। जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक हैं, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है।[4] वस्तु का स्वरूप ही अनेकांतात्मक है। केवल एक दृष्टिकोण से वस्तु के केवल एक पक्ष या धर्म को ही समझा जा सकता है, वस्तु के समग्र स्वरूप को नहीं। अतः वस्तु के समग्र स्वरूप को समझने के लिए अनेकांत दृष्टिकोण आवश्यक है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सर्वज्ञता के अभाव में एक साधारण व्यक्ति एक समय में वस्तु के समस्त धर्मों का, उसके संपूर्ण स्वरूप का अवलोकन कर सकता है? क्या कोई ऐसी व्यवस्था है जिससे मानव प्रयोजन के अनुरूप वस्तु के एक-एक धर्म को क्रमशः समझे, अभिव्यक्त करे तथा उसका निरूपण कर सके? बुद्धि की भी अपनी सीमा है, शब्दों की भी अपनी सीमा है। शब्द भी अपने-आपमें निश्चित कुछ अर्थों के अलावा अधिक कुछ भी नहीं कह सकते। ऐसे समय में ऐसी कौन-सी विद्या है जिससे हम अपना प्रयोजन भी साध लें और एकांतवाद के दूषण से भी बच जाएं? जैनाचार्यों ने वस्तु को तो अनेकांत स्वरूपी बतलाया ही, किंतु अनेकांत को भी अनेकांत स्वरूपी बतलाकर उन्होंने हमारी इस समस्या का समाधान कर दिया। वे कहते हैं—अनेकांत भी प्रमाण और नय साधनों को लिए हुए अनेकांत स्वरूप है। प्रमाण की दृष्टि से अनेकांत रूप सिद्ध होता है और विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकांत में एकांत रूप सिद्ध होता हैं।[5] अतः हम कह सकते हैं कि अनेकांत भी अनेकांत रूप है।

एकांत और अनेकांत के भी भेद हैं। एकांत भी दो प्रकार का है—(1) सम्यक् अनेकांत, (2) मिथ्या अनेकांत। यहां वस्तु के अनंत धर्मों में से एक धर्म का प्रयोजनवश कथन करे और अन्य धर्मों को गौण मात्र करे तब तो सम्यक् एकांत है और अन्य धर्मों का निषेध कर दे तो मिथ्या एकांत है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाण से अविरुद्ध एक

वस्तु में अनेक धर्मों के निरूपण करने में तत्पर है वह सम्यक् अनेकांत है। इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि सम्यक् एकांतों का समूह प्रमाण स्वरूप सम्यक् अनेकांत है तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विरुद्ध जो एक वस्तु में अनेक धर्मों की कल्पना करता है वह मिथ्या अनेकांत है। इसे, मिथ्या एकांतों का समूह ही मिथ्या अनेकांत है—ऐसा भी कह सकते हैं।[6] एक नय को एकांत कहते हैं और उसके समूह को अनेकांत कहते हैं। यह ज्ञान का भेद है जो सत्य या मिथ्या होता है।[7] यहां सम्यक् एकांत तो नय है और मिथ्या एकांत नयाभास है। इसी प्रकार सम्यक् अनेकांत तो प्रमाण है और मिथ्या अनेकांत प्रमाणाभास है।[8]

अनेकांत और नय

अनेकांत सिद्धांत के संक्षिप्त प्रतिपादन से यह इंगित हो ही जाता है कि नयवाद का आश्रय लिए बिना अनेकांत को अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। प्रत्येक धर्म का महत्त्व है। आवश्यकतानुसार हम प्रत्येक धर्म को मुख्य-गौण व्यवस्था के अंतर्गत प्रतिपादित कर सकते हैं। नय व्यवस्था हमें सम्यक् एकांत रूप से वस्तु के किसी एक धर्म का निरूपण निश्चिंततापूर्वक करने की अनुमति देती है और वस्तु के अनेकांत स्वरूपी वैचित्र्य को धैर्यपूर्वक गहराई से समझने का अवकाश देती है। यदि हम नयदृष्टिपूर्वक कोई कार्य करते हैं तब हम अन्य दृष्टियों को गौण करते हुए मुख्य दृष्टि पर गहराई से विचार कर सकते हैं। नय व्यवस्था हमें वस्तु स्वरूप की सच्ची समझ से भटकने नहीं देती। वास्तव में अनेकांतरूपी विशाल इमारत नयरूपी आधारशिला पर ही खड़ी है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि जैसे शास्त्रों का मूल अकारादिवर्ण हैं, तप आदि गुणों के भंडार साधु में सम्यक्त्व है, धातुवाद में पारा है, वैसे ही अनेकांत का मूल नय है।[9]

नय-ज्ञान की आवश्यकता

जैन दर्शन की गहराई को समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। संपूर्ण जैन दर्शन नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नय-ज्ञान के बिना जैन दर्शन की गहराइयों को समझ पाना तो दूर, उसमें प्रवेश पाना भी संभव नहीं है। धवला में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धांत के ज्ञाता हैं।[10] नयचक्र को समझना आसान नहीं है। इसके बिना जैन दर्शन के मर्म को समझा भी नहीं जा सकता। इसलिए सर्वप्रथम नयचक्र को सावधानीपूर्वक समझकर जिनागमों का अभ्यास करना चाहिए। इसका अभ्यास भी सुयोग्य गुरु के निर्देशन में करना चाहिए। जिस प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण धार वाली तलवार से बालकवत् खेलना खतरे से खाली नहीं है, उसी प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण धार वाले नयचक्र का यद्वा-तद्वा प्रयोग भी कम खतरनाक नहीं है। जिस प्रकार यदि तलवार चलाना सीखना है तो सुयोग्य गुरु के निर्देशन में विधिपूर्वक सावधानी से सीखना चाहिए, उसी प्रकार नयों की प्रयोग विधि में कुशलता प्राप्त करने के लिए भी नयचक्र के संचालन में चतुर गुरु ही शरण हैं।[11] नयदृष्टि यदि न हो तो जिनागम का ज्ञान व्यर्थ है। जैसे लवण (नमक) सब व्यंजनों को शुद्ध कर देता है—सुस्वादु बना देता है वैसे ही समस्त शास्त्रों की शुद्धि का कर्ता इस नयचक्र को कहा है। सुनय के ज्ञान से रहित जीवों के लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्या हो जाता है।[12] माइल्लधवल नयज्ञान को अज्ञानरूपी समुद्र से पार लगने का एकमात्र उपाय बतलाते हुए कहते हैं—यदि लीला मात्र से अज्ञानरूपी समुद्र को पार करने की इच्छा है तो दुर्नय रूपी अंधकार के लिए सूर्य के समान नयचक्र को जानने में अपनी बुद्धि को लगाओ।[13]

नय का स्वरूप

वस्तु के एक अंश को ग्रहण करना नय का विषय है। कहने वाले और समझने वाले के अभिप्राय विशेष को भी नय कहा जाता है। धवलाकार कहते हैं—'सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।'[14] प्रमाणनयतत्त्वालंकार में वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं[15]—ऐसा कहा गया है और स्पष्ट किया गया है कि श्रुतज्ञान प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का एक अंश जानकर अन्य अंशों के प्रति उदासीन भाव रखते हुए जो वक्ता का अभिप्राय होगा वही सच्चे अर्थों में नय कहा जा सकता है। यहां हम इतना सार संक्षेप रूप में समझ सकते हैं कि 'अभिप्राय' को 'नय' कहते हैं। अभिप्रायों को समझे बिना अनेकांत को नहीं समझा जा सकता और अभिप्रायों को कहे बिना अनेकांत को नहीं कहा जा सकता। यहां हम यह भी स्वतः समझ सकते हैं कि इस जगत में अभिप्रायों की संख्या सीमित नहीं है। कहां, किस जगह, किस काल व परिस्थिति में किस अभिप्राय से कौन-सी बात, किस प्रकार कही व समझी जा रही है—इस बात का सही निर्धारण कर पाना संभव नहीं, किंतु ऐसा होता है, यह मान्यता हमारे हृदय को स्वीकार होनी चाहिए। यह मान्यता जैन दार्शनिक आरंभ से ही स्वीकृत करते हैं। वे कहते हैं—'जितने भी वचन मार्ग हैं, उतने ही नयवाद अर्थात् नय के भेद हैं।'[16]

नय के भेद

नय के भेद-प्रभेदों की संख्या को वैसे तो सीमित नहीं किया जा सकता किंतु फिर भी शास्त्रों में सिद्धांत निरूपण की

दृष्टि को मुख्य रखते हुए जैनाचार्यों ने नयों को विभिन्न प्रकार से निरूपित करने का प्रयास किया है। जैनाचार्यों ने नयों के भेद-प्रभेदों को बहुत व्यवस्थित पद्धति से समझाने का प्रयास किया है। अलग-अलग प्रयोजनवश नयों के अलग-अलग नाम दिए हैं जिन्हें हम अगर उसी अनुसार समझें, जिस अनुसार वे हमें समझाना चाहते हैं, तो जैन दर्शन के अनेकांत के मर्म को समझने में हमें असुविधा नहीं होगी। नयों के स्वरूप को समझना और समझकर जैन ग्रंथों में प्रवृत्ति करना कठिन अवश्य है किंतु असंभव नहीं है। अनेकांत और उसकी नयदृष्टि अपने इसी स्वरूप-वैचित्र्य के कारण भी प्रबुद्धजनों के हृदय में निरंतर रोचकता उत्पन्न करती रहती है। यहां हम नयों के संपूर्ण भेद-प्रभेदों तथा उनके स्वरूपों की चर्चा में न जाकर उनका संक्षिप्त परिचय ही देंगे।

आगम शैली, अध्यात्म शैली

जैन दर्शन में नय व्यवस्था दो शैलियों में निबद्ध है—आगम शैली और अध्यात्म शैली। आगम (सिद्धांतग्रंथों) के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद किए गए हैं किंतु अध्यात्म ग्रंथों में निश्चय और व्यवहार भेद पाए जाते हैं। ये ही नयों के मूल भेद हैं। माइल्लधवल कहते हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय सब नयों के मूल भेद हैं। निश्चय के साधन में पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक को कारण जानें।[17] अर्थात् मूल नय तो दो ही हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अन्य शेष सभी नय इन्हीं के भेद-प्रभेद हैं।[18]

जहां 'स्व' की अपेक्षा अर्थात् आत्मा की अपेक्षा कथन होता है उसे निश्चय नय कहा जाता है और जहां 'पर' के अर्थात् आत्मा से पृथक् किसी भी आश्रय से कथन होता है उसे व्यवहार नय कहा जाता है।[19] निश्चय और व्यवहार नय की एक अलग परिभाषा में यह भी कहा गया है कि जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित भेद व उपचार करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं और उसके विपरीत निश्चय नय होता है।[20]

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के संदर्भ में कहा गया है कि जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।[21]

आचार्य उमास्वामि ने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समनिरूढ, भूत इन सात प्रकार के नयों का वर्णन किया है।[22] माइल्लधवल इन सात नयों में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन दो नयों को मिलाकर कुल नयों की संख्या नौ कर देते हैं तथा सद्भूत, असद्भूत, उपचरित इन तीन उपनयों की चर्चा भी करते हैं।[23]

सैंतालीस नय

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के परिशिष्ट में समागत सैंतालीस नयों की चर्चा कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि यह प्रकरण भी अनेकांतमयी वस्तु को समझाने में बहुत उपयोगी है। ये 47 नय भी एक प्रकार से आध्यात्मिक नय ही हैं, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र ने उन्हें आत्मा पर घटित किया है। विस्तार भय से उन 47 नयों के नाम मात्र उल्लिखित हैं। वे नय हैं— (1) द्रव्य नय (2) पर्याय नय (3) अस्तित्व नय (4) नास्तित्व नय (5) अस्तित्व-नास्तित्व नय (6) अवक्तव्य नय (7) अस्तित्व-अवक्तव्य नय (8) नास्तित्व-अवक्तव्य नय (9) अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नय (10) विकल्प नय (11) अविकल्प नय (12) नाम नय (13) स्थापना नय (14) द्रव्य नय (15) भाव नय (16) सामान्य नय (17) विशेष नय (18) नित्य नय (19) अनित्य नय (20) सर्वगत नय (21) असर्वगत नय (22) शून्य नय (23) अशून्य नय (24) ज्ञानज्ञेय-अद्वैत नय (25) ज्ञान नय-द्वैत नय (26) नियति नय (27) अनियति नय (28) स्वभाव नय (29) अस्वभाव नय (30) काल नय (31) अकाल नय (32) पुरुषकार नय (33) दैव नय (34) ईश्वर नय (35) अनीश्वर नय (36) गुणी नय (37) अगुणी नय (38) कर्तृ नय (39) अकर्तृ नय (40) भोक्तृ नय (41) अभोक्तृ नय (42) क्रिया नय (43) ज्ञान नय (44) व्यवहार नय (45) निश्चय नय (46) अशुद्ध नय और (47) शुद्ध नय।[24]

भारतीय दर्शनों में समन्वय का प्रयास

जैन दर्शन का कथन है कि वस्तु को किसी एक दृष्टिकोण से नहीं समझा जा सकता। भारतवर्ष में जितने भी दर्शन प्रचलित हैं और उनमें जो मतभेद होते हैं उसका एक ही कारण है और वह है एकांतवादी दृष्टिकोण। हठाग्रह इस बात का है कि हमारा दृष्टिकोण ही जगत का सबसे बड़ा सत्य है। यही मतभेदों का मूल कारण है। जैन दर्शन ने वस्तु के वास्तविक स्वरूप का अवलोकन किया तो पाया कि वस्तु को किसी एक तरीके या अभिप्राय से ही कहना—स्वयं वस्तु स्वरूप के साथ बहुत बड़ा अन्याय है। अनेकांत के सिद्धांत का उद्घोष करके जैन दार्शनिकों ने कहा—'यदि प्रत्येक दर्शन 'ऐसा ही है' की जगह 'ऐसा भी है' कहने लग जाए तो मतभेद का प्रश्न ही न रहे। वस्तु के वास्तविक स्वभाव का वर्णन करने के कारण ही तीर्थंकरों के लिए कहा गया है कि अन्यवादी लोग परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखने के कारण एक-दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, परंतु संपूर्ण नयों को एक समान देखने वाले आपके शास्त्रों में पक्षपात नहीं है।'[25]

सिद्धसेन दिवाकर ने तो यहां तक कहा कि जिस प्रकार नदियां समुद्र में आकर मिलती हैं, वैसे ही संपूर्ण दृष्टियों (दर्शनों) का आपमें समावेश होता है। जिस प्रकार भिन्न नदियों में समुद्र नहीं रहता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों में आप नहीं रहते।[26]

भारतीय दर्शन और नय

अनेकांत का मुख्य उद्देश्य वस्तु के सही स्वरूप का वर्णन कर संपूर्ण दर्शनों को समान भाव से देखकर माध्यस्थ भाव प्राप्त करने का है। यही धर्मवाद है और यही शास्त्रों का मर्म है। अतएव जिस प्रकार पिता अपने सभी पुत्रों के ऊपर समभाव रखता है, उसी तरह अनेकांतवाद संपूर्ण नयों को समान भाव से देखता है।[27] जिनेन्द्रवर्णी लिखते हैं— 'असद्भूत व्यवहार नय से चार्वाक दर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टि से भिन्न सत्ताधारी पदार्थों में भौतिक संयोग देखा जाता है, पदार्थ की भीतरी व्यवस्था नहीं। सद्भूत व्यवहार नय से वैशेषिक व नैयायिक दर्शन सत्य हैं, क्योंकि इस दृष्टि में वस्तु की भीतरी व्यवस्था का भेदपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। शुद्ध व्यवहार नय से सांख्य व योगदर्शन सत्य हैं, क्योंकि इस दृष्टि से जगतव्यापी एक अखंड महासत्ता को चेतन और जड़ दो अवांतर सत्ताओं में विभाजित करके देखा जाता है। शुद्ध संग्रह नय से ब्रह्ममीमांसा या वेदांत दर्शन सत्य हैं, क्योंकि इस दृष्टि से जगत को एक अखंड नित्य महासत्ता के रूप में देखा जाता है। इसी प्रकार व्यवहार नय से कर्ममीमांसा और अशुद्ध निश्चय नय से दैवीमीमांसा दर्शन सत्य हैं। ऋजुसूत्र नय से बौद्ध दर्शन सत्य है, क्योंकि इस दृष्टि से वस्तु के अखंड समष्टिगत रूप का विश्लेषण करके, उसमें प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के अंतिम विशेष देखे जाते हैं। इन दर्शनों के अतिरिक्त स्वभाववाद, ईश्वरवाद, कालवाद, नियतिवाद, संयोगवाद, उपादानवाद, निमित्तवाद आदि सभी प्रचलित वाद किसी व किसी नय या दृष्टि से सत्य हैं। किस दृष्टि से वे सत्य हैं और किस दृष्टि से असत्य, यह बात खोजना बुद्धि की प्रखरता पर निर्भर है। अतः अनेकांतवाद द्वारा भारत के समस्त दर्शनों के यथार्थ तत्त्वों को अवगत किया जा सकता है।[28]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनेकांतवाद शुद्ध रूप से वस्तु के अनंत धर्मों का प्रतिपादक है और स्याद्वाद तथा नयवाद के माध्यम से वह उसकी अभिव्यक्ति देता है। समस्त भारतीय दर्शनों को एक छत के नीचे लाने का तर्क एवं सहिष्णुतापूर्ण कार्य भी वह कर सकता है। इससे उसकी दृष्टि की व्यापकता का तो पता चलता ही है, साथ ही, इस बात का भी पता चलता है कि सत्य को खोजने के रास्ते में वह दुराग्रह लेकर नहीं चलता। यद्यपि सत्य के प्रति उसका सदैव आग्रह रहता है। वह लीक से हटकर बात तो करता है किंतु अपेक्षावाद के कारण भटकता नहीं। जैन दर्शन की इस व्यापक दृष्टि को दर्शन जगत के समक्ष लाने के प्रयास तो किए गए किंतु वे नगण्य हैं। आज इस पर कार्य करने की महती आवश्यकता है ताकि इस दृष्टि को जगत के समक्ष रखकर वर्तमान की समस्याओं का समाधान किया जा सके। ❖

संदर्भ

1. गुरुगोपालदास स्मृति ग्रंथ, पृ. 430
2. A Comprative Study of the Jaina theories of Reality and Knowledge Y.J. Padmarajiah. pp 273
3. 'अनेकान्तत्वं नामानेकधर्मात्मकत्वम्', सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. 30
4. समयसार आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, स्याद्वादाधिकार, पृ. 513
5. स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक-103
6. सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. 73-74
7. माइल्लधवलकृत द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा—180
8. सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. 74
9. नयचक्र, गा. 175
10. धवला, 1/1/1/68
11. परमभावप्रकाशक नयचक्र—डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, पृ. 21
12. नयचक्र, गा. 41
13. वही, गा. 419
14. धवला, 1/1/1, पृ. 513 तथा 'ज्ञातुरभिप्रायोनयः—' आलापपद्धति, सूत्र-181
15. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, 7/1
16. सन्मति तर्क, 3/47, 'जावइया वयणवहा तावइया चेव होंतिणयवाया'।
17. नयचक्र, गा. 182
18. वही, गा. 183
19. 'आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः'— समयसार, गा. 272 पर आत्मख्याति टीका।
20. नयचक्र, गा. 264
21. वही, गा. 189
22. तत्त्वार्थ, सूत्र 1/33
23. नयचक्र, गा. 184
24. परमभावं प्रकाशक नयचक्र, पंचम अध्याय में पृ. 278-279 पर उद्धृत।
25. स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक-30
26. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकास्तोत्र, 4/15
27. अध्यात्मोपनिषद, श्लोक 61, 70
28. गुरुगोपालदास स्मृति ग्रंथ, पृ. 432

महावीर ने धर्म की अहिंसात्मक क्रांति की। उन्होंने धर्मों के आपसी भेदों के विरुद्ध आवाज उठाई तथा धर्म को आरोपित सीमाओं के कटघरे से बाहर निकाल कर स्थापित किया। उन्होंने निर्भ्रांत स्वरों में घोषणा की—'एगा धम्म पडिमा; जं से आया पज्जवजाए' (स्थानांग)—धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है जिससे आत्मा का शुद्धीकरण होता है। धर्म न कहीं गांव में होता है और न कहीं जंगल में, बल्कि वह तो अंतरात्मा में होता है। उन्होंने धर्म-साधनों का निर्णय विवेक और सम्यक् ज्ञान के आधार पर करने की बात कही। 'जीवात्मा ही ब्रह्म है'—यह महावीर का अत्यंत क्रांतिकारी विचार था, जिसके आधार पर वे यह प्रतिपादित कर सके कि बाह्य जगत की कल्पित शक्तियों के पूजन से नहीं, अपितु अंतरात्मा के दर्शन एवं परिष्कार से ही कल्याण संभव है।

भगवान महावीर की धर्म-क्रांति

□ प्रो. महावीर सरन जैन □

भगवान महावीर का जीवन चरित आध्यात्मिक चिंतन, मनन, संयम तथा तपस्या का मंथन है। उनकी साधना की परिणति निष्कर्मदर्शी की निष्कर्म आत्मा को जानने में होती है। उनके जीवन-आचरण का महत्त्व आत्म-चेतना को आत्म-साधना से पहचानने में है। उनका 'जीवन चरित' तप द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय कर आत्म स्वभाव में रमण करने की प्रक्रिया है। उनका जीवन अपनी ही शक्ति एवं साधना के बल पर जीवात्मा के परमात्मा बनने की वैज्ञानिक प्रयोगशाला है।

भगवान महावीर प्रवर्तमान जैन धर्म के अवसर्पिणी काल के चौबीसवें तीर्थंकर हैं। प्राग्वैदिक युग से पोषित एवं विकसित श्रमण परंपरा के धार्मिक सूत्रों के सहारे 'निगंठनातपुत्त' ने अपने युग के संशयग्रस्त मानव समाज को धर्माचरण की नवीन दिशा एवं ज्योति प्रदान की। महावीर ने श्रमण-दर्शन की निर्ग्रंथ परंपरा में तेईसवें तीर्थंकर 'पार्श्वनाथ' के 'चातुर्याम' के स्थान पर 'पंच महाव्रत' का उपदेश दिया, आत्मजय की साधना को अपने ही पुरुषार्थ एवं चारित्र्य से सिद्ध किया। वैदिक ऋषियों ने सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन की आधारशिला स्थापित की थी। 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'—तुम मिल कर चलो, मिल कर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें। वैदिक चिंतन में सुसंस्कृत मानव समाज की रचना के अनेक सूत्र विद्यमान हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने धर्म और दर्शन को नए आयाम प्रदान किए, वहीं भगवान महावीर एवं गौतम बुद्ध ने धर्म-क्रांतियां संपन्न कीं। औपनिषदिक चिंतन ने सामाजिक एकता के लिए 'एकस्तथा सर्व भूतांतरात्मा' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' का उद्घोष कर एकात्म चेतना को जागृत किया। गौतम बुद्ध ने कहा, 'परीक्ष्य भिक्षवो! ग्राह्यं मद्वाचो न तु गौरवात्'—मेरी बातों को परीक्षा कर ग्रहण करो, मेरे महत्त्व के कारण नहीं। भगवान महावीर ने कहा, 'णो लोगस्स एसणं चरे' (आचारांग सूत्र)—किसी का अनुकरण या अनुसरण न करें, अपितु 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' (दशवैकालिक सूत्र)—अपने द्वारा ही अपना संप्रेषण-निरीक्षण करें। इसी उन्मुक्त दृष्टि का परिणाम था कि गौतम बुद्ध मैत्री एवं करूणा का संदेश दे सके तथा भगवान महावीर अहिंसा को परम धर्म के रूप में मान्य कर धर्म की सामाजिक भूमिका को रेखांकित कर सके।

मनुष्य को अपने जीवन में जो धारण करना चाहिए, वही धर्म है। धर्म दिखावा नहीं, रूढ़ि नहीं, प्रदर्शन नहीं, किसी के प्रति घृणा नहीं, मनुष्य और मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मानवीयता के गुणों की विकास शक्ति है, सार्वभौम चेतना का सत्संकल्प है। अपनी संपूर्णता में, समग्रता में, यथार्थता में 'धर्म' को टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता, उसे खंडों में नहीं तोड़ा जा सकता। धर्म एक समग्र सत्य साधना है। संसार के किसी भी मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनने के लिए, श्रेष्ठ सामाजिक व्यक्ति बनने के लिए

जिन आदर्शों तथा जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में धारण करना है, अपने आचरण में उतारना है—वही धर्म है।

धर्म की आड़ में अपने स्वार्थों की सिद्धि करने वाले अध्यात्म-सत्य को आवरण से ढकने का बार-बार प्रयास करते हैं। इनके कारण चित्त की आंतरिक शुचिता का स्थान बाह्य आचार ले लेते हैं। पाखंड बढ़ने लगता है। कदाचार का पोषण होने लगता है। जब धर्म का अमृत-तत्त्व स्वर्ण-पात्र में कैद हो जाता है तब ऐसे भी साधक होते हैं जो धर्म-क्रांति करते हैं, धर्म के क्षेत्र में व्याप्त अधार्मिकता एवं सांप्रदायिकता पर प्रहार कर, उसके यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करते हैं।

महावीर ने धर्म की अहिंसात्मक क्रांति की। उन्होंने धर्मों के आपसी भेदों के विरुद्ध आवाज उठाई तथा धर्म को आरोपित सीमाओं के कटघरे से बाहर निकाल कर स्थापित किया। उन्होंने निर्भ्रांत स्वरों में घोषणा की—'एगा धम्म पडिमा, जं से आया पज्जवजाए' (स्थानांग)—धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है जिससे आत्मा का शुद्धीकरण होता है। धर्म न कहीं गांव में होता है और न कहीं जंगल में, बल्कि वह तो अंतरात्मा में होता है। उन्होंने धर्म-साधनों का निर्णय विवेक और सम्यक् ज्ञान के आधार पर करने की बात कही। 'जीवात्मा ही ब्रह्म है'—यह महावीर का अत्यंत क्रांतिकारी विचार था, जिसके आधार पर वे यह प्रतिपादित कर सके कि बाह्य जगत की कल्पित शक्तियों के पूजन से नहीं, अपितु अंतरात्मा के दर्शन एवं परिष्कार से ही कल्याण संभव है। उनका स्पष्ट मत था कि वेदों के पढ़ने मात्र से उद्धार संभव नहीं है। उन्होंने व्यक्ति को सचेत किया कि यदि हृदय में परमाणु मात्र भी राग-द्वेष है तो समस्त आगमों में निष्णात होते हुए भी वह आत्मा को नहीं जान सकता। उन्होंने आत्मा द्वारा आत्मा को जानने की बात कही।

इस प्रकार महावीर की वाणी ने व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाया, आत्मसाधना के निगूढ़तम रहस्यद्वारों को वैज्ञानिक ढंग से आत्म-बल के द्वारा खोलने की प्रक्रिया बतलाई तथा सहज भाव से सृष्टि के कण-कण के प्रति राग-द्वेष की सीमाओं के परे करुणा एवं अपनत्व की भावभूमि प्रदान की।

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र हैं। उसके गुण और पर्याय भी स्वतंत्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणों और उसके पर्यायों के साथ अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों का किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। दर्शन की इस आधारशिला पर प्रस्थापित हो भगवान महावीर ने आत्मा की स्वतंत्रता की स्थापना की। प्रत्येक जीव में आत्मा का अस्तित्व है। जो जीव है, वह निश्चित ही चैतन्य है और जो चैतन्य है, वह निश्चित ही जीव है। जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति है। बंधन और मोक्ष अपने भीतर ही हैं। आत्मा का दुख स्वकृत है। जीवात्मा अपने स्वयं के उपार्जित कर्मों से बंधती है। बंधन से मुक्त होना अपने ही हाथ में है। यह आत्मा सर्व कर्मों का नाश कर सिद्धलोक में सिद्ध पद को प्राप्त करती है। साधना की सिद्धि परमात्मा में लय या विलीन हो जाने में नहीं, परमात्मा हो जाने में है।

अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। निश्चयनय की दृष्टि से तो प्रत्येक आत्मा एक समान है, प्रत्येक आत्मा नित्य मुक्त है। प्रत्येक आत्मा का जो समान नैसर्गिक और वास्तविक स्वरूप है वह कभी पैदा नहीं होता, कभी विलुप्त नहीं होता। विशुद्ध तत्त्व दृष्टि अथवा निश्चयनय की दृष्टि से तो बंधन की व्याख्या संभव नहीं है। चूंकि बंधन की व्याख्या संभव नहीं है, इस कारण मुक्ति की व्याख्या भी संभव नहीं है। बंधन की स्थिति पर्याय दृष्टि से है। आत्मा एवं पुद्गल (अनात्मा) का अनादिकालीन संयोग है। संयोग का कारण क्या है? जीव के राग, द्वेष, मोह, ममत्व, मिथ्यात्व आदि विभाव शक्तिजन्य विकारों को निमित्त करके ही पुद्गल कर्मणाएं कर्मरूप से परिणमन करती हैं। आत्मा एवं पुद्गल द्रव्य का संयोग तो अनादिकालीन है, किंतु कर्म-विशेष की दृष्टि से आत्मा और कर्म-विशेष का अनादि संबंध नहीं है। कोई कर्म-विशेष आत्मा से सदैव-सदैव के लिए नहीं बंधता। कर्म का बंधन पर्याय दृष्टि से है। एक विशेष कर्म के स्थान पर दूसरा विशेष कर्म आता रहता है। इस कारण कर्म-विशेष की दृष्टि से आत्मा तथा कर्म का अनादि संबंध नहीं है अपितु कर्म-प्रवाह की दृष्टि से आत्मा तथा कर्म का अनादि संबंध है।

जीवात्माओं में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, इनका अंतर साधना की विकास भूमि की दृष्टि से है, गुण स्थानों पर पहुंचने की क्रमिकता की दृष्टि से है।

व्यक्ति की आत्मा का वास्तविक ज्ञान स्वरूप या मुक्त स्वरूप पर्याय दृष्टि से कर्मों के आवरण से कितना आच्छादित है, आत्मा की पर्याय विरूपावस्था की क्या स्थिति है—इस दृष्टि से अंतर है। आत्म-विकास के पथ में जो प्राणी जितनी उच्च भूमिका पर पहुंच जाता है, वह उतना ही उच्च है। जो प्राणी आत्म-गुणों का जितना अधिक विकास कर लेता है, वह उतना ही उच्च है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की निर्मल एवं निर्दोष आराधना द्वारा प्रत्येक प्राणी क्रमिक विकास कर सकता है। किसी तीर्थंकर की पूजा का उद्देश्य उसका अनुग्रह प्राप्त करना नहीं है, उसे प्रसन्न कर उससे कुछ वरदान प्राप्त करना नहीं है, अपितु धर्म-तत्त्व में श्रद्धा होने की स्थिति निर्मित करना है, तीर्थंकर के गुणों का चिंतन-मनन करना एवं उन्हें प्राप्त करना है। भगवान महावीर की पूजा करने की सार्थकता भगवान महावीर जैसी साधना करने में है। धर्म की सार्थकता कामनाओं की पूर्ति में नहीं, कामनाओं पर विजय प्राप्त करने में है। कोई दूसरा हमारा उद्धार नहीं कर सकता, क्योंकि हमारी आत्मा ही हमारी वैतरणी नदी है। प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र रूप है, जबकि दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप है।

साधक को समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए तथा संसार के सभी जीवों को समभाव से देखना चाहिए। समभाव की साधना व्यक्ति को श्रमण बनाती है। तीर्थंकर लोक-मंगल की आराधना के लिए तीर्थ का निर्माण करते हैं, जहां प्राणी मात्र को विश्वास, आस्था एवं ज्ञान का अमोघ मंत्र दिया जाता है, जिससे प्राणी मात्र का कल्याण संभव हो सके। इसी कारण जैनाचार्य समंतभद्र ने भगवान महावीर की व्यवस्था के संबंध में कहा है—'भगवन्! आपकी व्यवस्था सभी प्राणियों के सर्वदुखों का अंत करने वाली और सबका कल्याण करने वाली है, सर्वोत्तम तीर्थ है।'

भगवान महावीर ने लोक-मंगल की आचरणमूलक भूमिका के व्यावहारिक सामाजिक-सूत्र भी प्रदान किए हैं।

सृष्टि के प्राणी मात्र के प्रति जब राग एवं द्वेष के स्थान पर आत्मतुल्यता की ज्ञान-ज्योति से सहअस्तित्व, मैत्री एवं करूणा की भावना जागृत होती है तभी व्यक्ति का चित्त धार्मिक बनता है तथा तभी सारा समाज सुखी एवं परस्पर सद्भाव के साथ 'समतामय' बन सकता है।

'जो बात हमें बुरी लगती है, वह दूसरों को भी बुरी लगती है। दूसरों के दुख को अपने जैसा दुख समझने वाला व्यक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा जो दूसरों को अप्रिय लगे।'

जब व्यक्ति सभी जीवों को समभाव से देखता है तो राग-द्वेष का विनाश हो जाता है। उसका चित्त धार्मिक बनता है। राग-द्वेषहीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढ़ी है। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

समभाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अपने आप अहिंसक हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियों को दुख अप्रिय है। किसी भी प्राणी को न मारना तथा किसी भी प्राणी को दुख न पहुंचाना ही अहिंसा है। अहिंसा केवल निवृत्तिपरक साधना नहीं है, यह व्यक्ति को सही रूप में सामाजिक बनाने का अमोघ मंत्र है।

अहिंसा के साथ व्यक्ति की मानसिकता का संबंध है। इस कारण महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है। एक कृषक अपनी क्रिया करते हुए यदि अनजाने जीव हिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुड़ती नहीं है। भले ही हम किसी का वध न करें किंतु किसी के वध करने के विचार के जनमते ही उसका संबंध मानसिकता से संपृक्त हो जाता है।

हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एवं सामाजिकता का। दूसरों का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एवं मानवीय बनाया है।

अहिंसा के साथ ही जुड़ी हुई भावनाएँ हैं—अपरिग्रहवाद एवं अनेकांतवाद। परिग्रह से आसक्ति एवं ममता का जन्म होता है। अपरिग्रह वस्तुओं के प्रति ममत्वहीनता का नाम है। जब व्यक्ति अहिंसक होता है, राग-द्वेषरहित होता है तो स्वयमेव अपरिग्रहवादी हो जाता है। उसकी जीवन-दृष्टि बदल जाती है। भौतिक-पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति समाप्त हो जाती है। अहिंसा की भावना से प्रेरित व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जिसमें किसी अन्य प्राणी के हितों को आघात न पहुंचे।

बहुत अधिक उत्पादन मात्र से सामाजिक समस्याएं नहीं सुलझ सकतीं। व्यक्ति को अपने चित्त को बदलना होगा। जब व्यक्ति धर्म से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी कामनाओं एवं इच्छाओं को स्वयं सीमित करना सीखेगा, तभी बहुत-सी सामाजिक समस्याओं को सुलझाया जा सकेगा। परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को अनुदार बनाती है, उसकी मानवीयता को नष्ट करती है। उसकी लालसा बढ़ती जाती है। धन-लिप्सा एवं अर्थ-लोलुपता ही उसका जीवन-लक्ष्य हो जाता है। उसकी जिंदगी पाशविक शोषण के रास्ते पर बढ़ना आरंभ कर देती है। इसके दुष्परिणामों को भगवान महावीर ने पहचाना था। इसी कारण उन्होंने कहा कि जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन

करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। परिग्रह को घटाने से ही हिंसा, असत्य, अस्तेय एवं कुशील—इन चारों पर रोक लगती है।

अहिंसक व्यक्ति आग्रही नहीं होता। उसका प्रयत्न होता है कि वह दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुंचाए। वह सत्य की तो खोज करता है, किंतु उसकी कथन शैली में अनाग्रह एवं प्रेम होता है। अनेकांतवाद व्यक्ति के अहंकार को झकझोरता है। उसकी आत्यंतिक दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है। अनेकांतवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का संपूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम संभव नहीं हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण-धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न कोणों से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न व्यक्तियों की प्रतीतियां भिन्न हो सकती हैं।

'अनेकांत' वस्तु का स्वरूप है, 'स्याद्वाद' उसे कहने की न्यायपूर्ण पद्धति है। 'स्याद्वाद' सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है।

मिथ्या ज्ञान के बंधनों को दूर कर स्याद्वाद ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया, एकांतिक चिंतन की सीमा बताई। आग्रहों के दायरे में सिमटे हुए मानव की अंधेरी कोठरी को अनेकांतवाद के अनंत लक्षण-संपन्न सत्य-प्रकाश से आलोकित किया जा सकता है। आग्रह एवं असहिष्णुता के बंद दरवाजों को स्याद्वाद के द्वारा खोल कर अहिंसावादी के रूप में विविध दृष्टियों एवं संदर्भों से उन्मुक्त विचार करने की प्रेरणा प्रदान की जा सकती है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने जिस जीवन-दर्शन को प्रतिपादित किया है, वह आज के मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक—दोनों तरह की समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान है। यह दर्शन आज की प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था एवं वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिंतन के भी अनुरूप है। आदमी के भीतर की अशांति, उद्वेग एवं मानसिक तनावों को दूर करना है तथा अंततः मानव के अस्तित्व को बनाए रखना है तो भगवान महावीर की वाणी को युगीन समस्याओं एवं परिस्थितियों के संदर्भों में व्याख्यायित करना होगा। यह ऐसी वाणी है, जो मानव मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करती है, सापेक्षवादी सामाजिक-व्यवस्था का चिंतन प्रस्तुत करती है, पूर्वाग्रहरहित उदार दृष्टि से एक-दूसरे को समझने-समझाने और स्वयं को तलाशने-जानने के लिए अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि प्रदान करती है तथा समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एवं अपने ही प्रयत्नों से उच्चतम विकास कर सकने का आस्थावादी मार्ग प्रशस्त करती है। ❖

प्रकृति के नियमों तथा विज्ञान के चमत्कार का अल्प ज्ञान कुछ लोगों के स्वभावों पर मदिरा का-सा काम करता है। यह परिणाम उस समय विशेष रूप से होता है, जब ज्ञान की प्राप्ति अप्रत्यक्ष रूप से की जाती है और वह वैयक्तिक प्रयत्न तथा गवेषणा के संस्कारी प्रभाव से वंचित रहता है। ऐसी स्थिति में उन लोगों का अनुपात-ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है। उनके लिए अज्ञात न केवल अज्ञात ही रहता है, वरन् सर्वथा नष्ट हो जाता है। धार्मिक ग्रंथों को वे प्राचीन काल की मूर्खता मानने लगते हैं; कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर उन्हें पाखंड के उपकरण और उसके व्यवहार के लिए समझ-बूझकर तैयार की हुई युक्तियां बताने लगते हैं; परंतु जिन्होंने भौतिक विज्ञान का गंभीरतर अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार, अपनी अनुपात-बुद्धि तथा निर्णय-शक्ति को कायम रखने के लिए पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे जानते हैं कि अज्ञात ज्ञात से कहीं अधिक विशाल है। अधिकाधिक समय बीतने के साथ मानव-बुद्धि उसके अधिकाधिक क्षेत्र को अपनी परिधि के अंदर ला सकती है, फिर भी अवशेष रहता ही है। उसकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न उसे मानव-बुद्धि की सीमा के अंतर्गत ही लाया जा सकता है। सच्चे वैज्ञानिक न केवल अपनी नम्रता कायम रखते हैं, वरन् प्रकृति के कुछ गुह्य रहस्यों के ज्ञान के कारण ही, उसका और भी अधिक नम्रता तथा भक्तिभाव से मनन करते हैं, जो सदैव मानवीय विश्लेषण की परिधि के परे रहने वाला है।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

रपट

महासभा का 87वां वार्षिक अधिवेशन संपन्न

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा का 87वां वार्षिक अधिवेशन 30 जनवरी, 2001 को गंगाशहर में संपन्न हुआ। बैठक की अध्यक्षता महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा ने की। महासभा के अध्यक्ष और महामंत्री की ओर से सदस्यों का स्वागत करने के बाद महामंत्री श्री भंवरलाल सिंघी ने वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रतिवेदन में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी और साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए उनके निरंतर मार्गदर्शन के लिए विनम्र कृतज्ञता भी प्रकट की गई।

हर वर्ष की तरह मर्यादा महोत्सव के अवसर पर होने वाले इस अधिवेशन की महत्ता इसलिए अधिक समझी गई कि आचार्यश्री तुलसी की पुण्यस्थली होने के कारण अब गंगाशहर एक पावन तीर्थ है। यह अधिवेशन उनकी समाधि के लोकार्पण के तत्काल बाद संपन्न हुआ, इसलिए इसका पृथक् महत्त्व है। आचार्यश्री तुलसी का भव्य स्मारक 'नैतिकता का शक्तिपीठ' के रूप में समाज के लिए उत्प्रेरक बने, यह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की मंगलभावना है। इस अधिवेशन में भी यही भावना परिलक्षित हुई।

अपने वार्षिक प्रतिवेदन में महामंत्री श्री सिंघी ने दीर्घ-दिव्य तपस्विनी शासनगौरव साध्वी पन्नाजी के महाप्रयाण का जिक्र करते हुए उन सभी चरित्र आत्माओं के प्रति श्रद्धा प्रकट की, जिन्होंने अपनी संयम यात्रा संपन्न कर ली। प्रतिवेदन में समाज के दिवंगत कार्यकर्ताओं, गणमान्य व्यक्तियों के प्रति भी श्रद्धांजलि प्रकट की गई। ज्ञानशाला के राष्ट्रीय प्रभारी हिम्मतलालजी परमार की सेवाओं का भी स्मरण किया गया।

संगठन को शक्तिसंपन्न बनाने की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत स्थानीय सभाओं को महासभा से संबद्ध करने से संबंधित एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और निर्णय लिया गया कि 31 मार्च, 2001 तक सभी स्थानीय सभाएं महासभा से विधिवत् संबद्धता प्राप्त कर लें। इसके बाद महासभा से असंबद्ध रहने वाली स्थानीय सभाओं की संघीय मान्यता नहीं रहेगी।

प्रतिवेदन के अनुसार देश भर की 305 स्थानीय सभाएं महासभा से संबद्धता ले चुकी हैं। महासभा के प्रतिनिधि श्री सुरेन्द्र भूरा के प्रयासों से करीब 480 आजीवन सदस्य बने हैं और इस तरह इनकी संख्या 2421 हो गई हैं।

प्रतिवेदन में बताया गया कि देश भर के सभा भवनों व ट्रस्टों की सूची तैयार की जा रही है और 'भवन आचार-संहिता' भी बनाई जा रही है। सभाओं की गतिविधियों आदि की जानकारी के लिए एक सर्वेक्षण प्रश्नावली भी देश भर की सभाओं को भेजी गई है। आपूर्ति के बाद इसके प्राप्त होने से सभी सभाओं की गतिविधियों की जानकारी महासभा के पास उपलब्ध हो सकेगी।

महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा की चैन्नई यात्रा का जिक्र भी प्रतिवेदन में किया गया है। तेरापंथी सभा, चैन्नई का स्वर्ण-जयंती समारोह व तमिलनाडु श्रावक-सम्मेलन 23 जुलाई, 2000 को चैन्नई में हुआ था। महासभा अध्यक्ष श्री डागा ने इसकी अध्यक्षता की थी। इसी तरह सिंवाची मालानी क्षेत्रीय तेरापंथी संघ का अधिवेशन व श्रावक सम्मेलन भी 15 नवम्बर, 2000 को संपन्न हुआ। उपाध्यक्ष श्री किशन डागलिया इस समारोह में सम्मिलित हुए। वहां नवनिर्मित भवन का उद्घाटन भी इस मौके पर हुआ।

महासभा की मुखपत्रिका 'जैन भारती' के नियमित प्रकाशन और उसकी उत्तरोत्तर आकर्षक सज्जा व पठनीय सामग्री का जिक्र करते हुए प्रतिवेदन में बताया गया कि 'जैन भारती' के हर अंक पर सुंदर प्रतिक्रियाएं होती हैं। इसकी सशुल्क पाठक संख्या में वृद्धि हुई है, लेकिन सबका दायित्व बनता है कि 'जैन भारती' की प्रसार संख्या में बढ़ोतरी के लिए हर स्तर पर प्रयास किए जाएं।

प्रतिवेदन में महासभा के शिविर कार्यालयों के व्यवस्थित व नियमित संचालन, ज्ञानशाला, उपासक वर्ग, उपासना कक्ष, कर्मणा जैन आदि के कार्यकलापों के बारे में भी बताया गया और इनकी उपलब्धियों के प्रति संतोष प्रकट किया गया।

शेष पृष्ठ 32 पर

अनुभूति

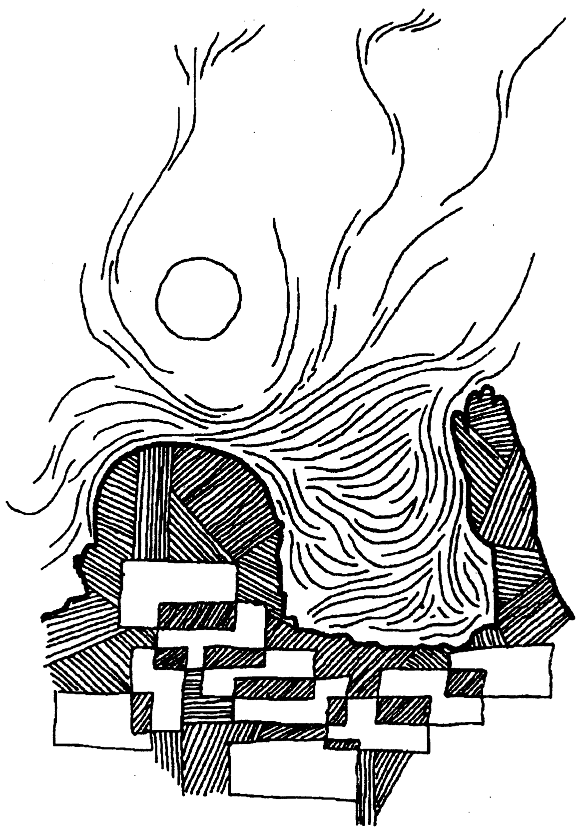

घटना

यह घटना कहीं घटी थी
घटना यह कहां घटी थी?

वह घटित हुई थी घर में
या घटित हुई थी बाहर?
वह सचमुच घटी कहीं थी
या घटने का थी
भ्रम भर?

पर
घटना कहीं घटी थी—
वह है कुछ
मेरे भीतर
वह है कुछ मेरे बाहर!

यह घटना कहीं
घटी थी।

—प्रयाग शुक्ल

महर्षि अरविंद भारतीय मनीषा में ही नहीं, विश्व-विचार जगत में भी महत्त्वपूर्ण नाम है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जेल में यातना भोग चुके महर्षि अरविंद आखिरशः एक अनुसंधाता—एक योगी के रूप में विख्यात हुए। वे चेतना के अनुसंधाता कहलाए। उन्होंने स्वयं कहा—'आत्मा की सचेतन उपलब्धि की कला का नाम योग है।' महर्षि अरविंद के चेतना के अन्वेषण पर लेखक-विचारक सत्प्रेम का यह विचार-प्रधान लेख—

चैत्य का आविर्भाव

□ सत्प्रेम □

चैत्य की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति है आनंद और प्रेम। आनंद ऐसा जो अत्यधिक तीव्र और प्रबल होते हुए भी उन्मादरहित, सिंधुसदृश शांत, गंभीर और निरपेक्ष होता है। आत्मिक आनंद को अपने अस्तित्व के लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं। कालकोठरी के अंदर भी वह हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि वह एक अवस्था है, मनोभाव नहीं, ठीक वैसे ही जैसे एक नदी बहती जाती है और चाहे दलदल हो या चट्टान, मैदान हो या पहाड़, वह जिधर भी जाती है, उसका उल्लास बना रहता है। वह प्रेम है, जो घृणा का विपरीत नहीं और न ही उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी वस्तु की अपेक्षा है। जो कुछ उसके सामने आए, जो भी वह देखे, स्पर्श करे, सबमें शांत रूप से प्रदीप्त हो उठता है, क्योंकि वह प्रेम किए बिना रह नहीं सकता, यह उसकी अवस्था है। उसके लिए न कुछ नीच है न उच्च, न पवित्र न अपवित्र; न उसकी ज्वाला कभी मंद पड़ती है और न आनंद। कुछ अन्य लक्षण भी उसे व्यक्त करते हैं—वह हल्का रहता है, भाररूप उसे कुछ लगता ही नहीं, मानो संसार उसका खेल-खिलौना हो। वह अभेद्य है, कुछ भी उसे स्पर्श नहीं करता, मानो सर्वकाल के लिए वह दारुण विपत्तियों से ऊपर उठ गया हो और सब दुर्घटनाओं से पहले ही सुरक्षित हो। वह ज्ञानी है, सब देखता है। वह शांत, एकदम शांत रहता है जैसे अंतस्तल की गंभीरता में मंद श्वास चला करता है। वह इतना विशाल है मानो लाखों वर्षों से सागर बन लहरा रहा हो। कारण, वह नित्य है, और वह है मुक्त। कोई भी उसे पकड़ कर नहीं रख सकता—न यह जीवन, न ये मनुष्य, न ये सब विचार, न ही सिद्धांतसमूह और न ये सारे देश। वह सबसे परे है, सदा परे रहता है, फिर भी सब वस्तुओं के हृदय में असंख्य रूप से बसता है, मानो वह सब के साथ एकाकार हो। कारण, वह हमारा अंतर्यामी भगवान है।

सूक्ष्म दृष्टि वाले को चैत्य का क्या रूप दिखता है, वह श्री मां बताती हैं—*जब हम एक ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जो अपनी आत्मा के प्रति सचेतन है, और उसी में निवास करता है, तब हमें लगता है कि हम नीचे उतर रहे हैं और गहरे में, अंदर ही अंदर, उस व्यक्ति के अंतस्तल में, दूर, और भी दूर, बहुत ही दूर अंदर उतरते जा रहे हैं। इसके विपरीत, साधारणतः जब हम लोगों की आंखों में देखते हैं (ऐसी आंखें भी होती हैं, जहां कोई प्रवेश नहीं पा सकता, वे दरवाजे की तरह बंद होती हैं, पर कुछ आंखें खुली भी होती हैं, हम वहां प्रवेश करते हैं), तब पास ही, पीछे की ओर, एक चीज मिलती है जो थिरकती है, कभी-कभी वह चमकने लगती है, जगमगा उठती है। तब यदि हम धोखा खा जाएं, तो कहते हैं, 'अहा! वह बड़ी सजग आत्मा है।' पर यह सत्य नहीं, वह तो उसका प्राण है। आत्मा को पाने के लिए तो, ऊपरी तल से पीछे हटने की, सब ओर से हट कर गहराई में जाने की, एक बहुत गहरे, नीरव, निश्चल विवर में, नीचे ही नीचे उतरते जाने की आवश्यकता है। और तब, वहां, एक चीज मिलती है जो कुछ उष्णिल-सी, शांत, समृद्ध और बिल्कुल निष्कंप होती है, सब तरह से भरी-पूरी, एक मिठास-सी—वह, वही आत्मा है। फिर भी यदि मनुष्य प्रयत्न करता जाए और स्वयं भी सचेतन हो, तब एक प्रकार की परिपूर्णता उत्पन्न होती है जो अथाह गहराइयां लिए हुए एक संपूर्ण वस्तु का आभास देती है और मनुष्य को यह लगता है कि यदि वह उसके अंदर प्रवेश करे तो वहां कई ऐसे रहस्य होंगे जो एक शांत, निष्कंप जलराशि पर किसी नित्य-सनातन वस्तु के प्रतिबिंब की तरह उद्भासित हो उठेंगे। तब*

काल की सीमाएं टूट जाती हैं। मनुष्य को लगता है कि वह सदा से है और अनंत काल तक रहेगा।

पर ये सब तो केवल लक्षण हैं, बाह्य रूपांतरण हैं उस वस्तु के जो स्वयंभू है और जिसका हम प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं। तो फिर चैत्य के पट किस तरह खोले जाएं, वह तो पूर्णतः छुपा हुआ है? और सबसे पहले तो उसे छुपा रखा है हमारे विचारों ने, हमारे मनोभावों ने, जो बड़ी क्रूरता से उसे लूटते-खसोटते हैं, फिर उसका स्वांग भरते हैं। क्या उच्च है क्या नीच, क्या पवित्र और क्या अपवित्र, दैवी क्या है और आसुरी क्या है, इस बारे में अनगिनत विचार हमने गढ़ रखे हैं, और क्या हमें प्रिय होना चाहिए क्या नहीं, इस मामले में भावुकतापूर्ण छोटे-छोटे इतने ताले-कुंडे जड़ रखे हैं कि बेचारे इस चैत्य को तो बाहर झांकने तक का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि जगह तो सारी इसी जमघट ने घेर ली। जरा उसने बाहर सूरत दिखाई नहीं कि झट प्राण ने उसे धर दबोचा और फिर वह चैत्य को ले, उससे अपने उत्कट आवेश, रोमांचकारी 'दिव्य' भावनाएं, अधिकार जमाने वाले प्रेम और चटकीली कलाएं रचता है। मन उसे पिंजरे में डाल उससे अपने एकांतिक आदर्शों, अपने अचूक सेवाकार्यों और बंधनों में जकड़े हुए आचार-नियमों की सृष्टि करता है। फिर वे धर्मसंस्थाएं हैं, वे असंख्य धर्मसंस्थाएं, जो उसे नियमों और सिद्धांतों में ढालती हैं। इन सबके बीच चैत्य कहां? फिर भी वह है तो सही; धीर, दिव्य, वह मोटी और कड़ी सब परतों को फोड़ कर बाहर निकलने के लिए भारी प्रयास कर रहा है; और अपने काम के लिए वह सभी चीजों का प्रयोग करता है, सचमुच जो कुछ भी उसके हाथ लग जाए या उस पर लाद दिया जाए—सभी का, जैसे कहते हैं, 'जो कुछ पास हो उसी से काम चला लेता है।' और यही रास्ते की भारी रुकावट है। जब वह अपने गुप्त स्थान से एक पल के लिए बाहर आता है, तो जिस चीज को भी छू देता है, उस पर ऐसी शोभा छा जाती है कि स्वभावतः उसकी अभिव्यक्ति के देश-काल को ही हम भूल से उसका उज्ज्वल सत्य मान बैठते हैं। जिस व्यक्ति को कभी बीथोवन का संगीत सुनते समय अपने चैत्य का दर्शन हुआ हो, वह कहेगा, 'संगीत! इस पृथ्वी पर संगीत ही तो एकमात्र सत्य और दिव्य वस्तु है!' कोई दूसरा, जिसने समुद्र की अनंतता में अपनी आत्मा को अनुभव किया है, वह असीम सागर को ही अपना सब धर्म-कर्म मान बैठेगा; कोई और कहेगा—मेरा पैगंबर, मेरा मंदिर, मेरा धर्मशास्त्र! और हरेक अपनी अनुभूति के इर्द-गिर्द अपनी इमारत खड़ी कर लेता है। परंतु चैत्य मुक्त है, आश्चर्यजनक रूप से मुक्त! अपने अस्तित्व के लिए उसे *किसी भी वस्तु* की अपेक्षा नहीं, वह स्वाधीनता का चरम सार है और आदमी की इस मोटी चमड़ी को भेद कर बाहर निकलने के लिए आत्मा हमारे निकृष्ट और उत्कृष्ट, सभी संगीत का, सब धर्मशास्त्रों का उपयोग करती है, चाहे वे कम महान हों या अधिक। हमारे समस्त विचारों, मनोभावों और सिद्धांतों को वह अपनी शक्ति और प्रेम, अपना आनंद और प्रकाश, अपना दुर्निवार उन्मुक्त सत्य प्रदान करती है, क्योंकि बाहर आने का उसे एकमात्र यही अवसर मिलता है, यही एक चीज मिलती है जिसमें वह अपने आप को व्यक्त कर सके। परंतु चैत्य के इसी आचरण द्वारा ये भावावेश, विचार और सिद्धांत, उससे ही आत्मविश्वास प्राप्त करके उद्धत हो उठते हैं। वे आत्मा पर अपना आधिपत्य जमा उसका रूप बदल देते हैं। इस शुद्ध परमसत्य के अंश में से वे अपने निर्विवाद निश्चय, अपनी अनन्य गहराई, एकपक्षीय सार्वभौमिकता निकाल लाते हैं और *सत्यांश की शक्ति से ही भ्रांति के अंश की शक्ति भी बढ़ जाती है।* आखिर चैत्य इतना दब जाता है और मिलावट इतनी भरपूर हो जाती है कि फिर कुछ भी पता नहीं चलता। सत्य के असली रूप को नष्ट किए बिना नकली को उखाड़ फेंकना तब संभव नहीं रहता, और इन अर्धसत्यों के, जो असत्यों की अपेक्षा अधिक बोझिल होते हैं, भार के नीचे दबा हुआ संसार इसी तरह चलता जाता है। बुराई से पीछा छुड़ाना शायद असली कठिनाई नहीं है, क्योंकि उसे सभी पहचानते हैं—यदि मनुष्य अपने इरादे में जरा भी सच्चा हो, तो वह कभी नहीं ठहरती—कठिन है उस अच्छाई से छूटना जो बुराई के

...तो फिर चैत्य के पट किस तरह खोले जाएं, वह तो पूर्णतः छुपा हुआ है? और सबसे पहले तो उसे छुपा रखा है हमारे विचारों ने, हमारे मनोभावों ने, जो बड़ी क्रूरता से उसे लूटते-खसोटते हैं, फिर उसका स्वांग भरते हैं। क्या उच्च है क्या नीच, क्या पवित्र और क्या अपवित्र, दैवी क्या है और आसुरी क्या है, इस बारे में अनगिनत विचार हमने गढ़ रखे हैं, और क्या हमें प्रिय होना चाहिए क्या नहीं, इस मामले में भावुकतापूर्ण छोटे-छोटे इतने ताले-कुंडे जड़ रखे हैं कि बेचारे इस चैत्य को तो बाहर झांकने तक का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि जगह तो सारी इसी जमघट ने घेर ली।

विपरीत के अतिरिक्त कुछ नहीं, और जिसने सत्य के एक क्षुद्र अंश को सदा के लिए ताले में बंद कर लिया है।

यदि हम चैत्य के उस स्फटिक सदृश निर्मल स्वरूप को, जिसकी नितनूतनता हमे अचरज में डालती है, जिसे हम किसी भी युक्ति द्वारा पकड़ नहीं पाते, जो हमारे विचारों, संवेदों और वाणी से सर्वथा अतीत है, स्वयं अनुभव करना चाहते हैं, तो हमें अपने अंदर पारदर्शिता बनानी होगी—बीथोवन, अगाध सिंधु, देवमंदिर, ये सब तो उस पारदर्शिता के साधन मात्र थे—क्योंकि बात वही है कि जब मनुष्य निर्मल हो जाता है तब सत्य का सहज आविर्भाव होता है—दृष्टि, आनंद, सभी स्वतः आ जाते हैं, कुछ करना नहीं पड़ता। कारण, संसार में सत्य सबसे स्वाभाविक वस्तु है। गड़बड़ करने वाली हैं बाकी की चीजें—ये मानस और प्राण अपने भ्रामक स्पंदों और पांडित्यपूर्ण उलझनों से अवरोध पैदा करते हैं। आध्यात्मिक कहलाने योग्य सभी अनुशासनों, सभी *तपस्याओं* का अंततः यह लक्ष्य होना चाहिए उस बिंदु तक पहुंचना, जो सर्वथा स्वाभाविक है और जहां प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती—प्रयास भी रुकावट डालता है, उससे भी अंतर्सत्ता पर स्थूलता छा जाती है। अतः साधक को चाहिए कि चैत्य को मुक्त करने के उद्देश्य से न तो नीतिपरक मानस के चक्कर में पड़े और न ही अच्छे और बुरे को छांटने के असंभव कार्य में प्रवृत्त हो, क्योंकि अंततः अच्छाई और बुराई, दोनों के एक समान अनिष्टकारी होने के कारण, उपयोगिता की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं होता—*जब मेरे प्रियतम ने मेरा पाप-परिच्छद उतारा, तब मैंने उसे सहर्ष गिरने दिया; फिर उसने मेरे पुण्यपरिधान को खींचा, पर मैं लज्जित हो गया और घबरा कर मैंने उसे रोकने की चेष्टा की। किंतु उसने जब बलपूर्वक वह मुझसे छीन ही लिया, तब मैंने देखा कि किस तरह मेरी आत्मा मुझसे छुपी हुई थी।*—साधक को तो नीरव-निश्चल बन, सब निथार लेने का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि नीरवता स्वयं पवित्र होती है—वह परम पावन जल है। काल्डीया की एक अत्यंत प्राचीन परंपरा में आदेश है, 'चादर के धब्बों को एक-एक करके धोने का प्रयत्न छोड़, पूरी चादर ही बदल डालो।' इसे ही श्री अरविंद ने *चेतना का रूपांतर* कहा है। सचमुच, इस पारदर्शिता में हमारे अस्तित्व की पुरानी सलवटें बड़ी शांति से निकल जाएंगी और हमें चेतना की एक नई स्थिति का—बौद्धिक स्थिति नहीं, बल्कि एक आकर्षण-केंद्र का अनुभव होने लगेगा। हृदय के समतल, परंतु हृदय में स्थित प्राण-केंद्र से (जो चैत्य को पीछे ढकेल छल से उसका ढोंग किया करता है) अधिक गहराई में हमें एकाग्रता के एक केंद्र का आभास मिलेगा जो अन्य केंद्रों की अपेक्षा अधिक प्रबल होगा और अन्य सब केंद्र उसमें मिलते हुए-से प्रतीत होंगे—यही है *चैत्य-केंद्र*। हमें पहले यह प्रतीति हो चुकी है कि हमारे अंदर चित्-शक्ति की एक धारा बनी और अपनी विलग सत्ता का विकास कर वह हमारे शरीर में संचार करने लगी, फिर ज्यों-ज्यों वह मानस और प्राण से संबद्ध अपनी क्रियाओं से छूटती गई, त्यों-त्यों उसकी तीव्रता बढ़ती गई, परंतु इसी बीच केंद्रस्थल में कुछ प्रदीप्त हो उठा, मानो एक *अग्नि* हो। वह हमारा सत्य स्वरूप है। हम कहते हैं कि हमें 'ज्ञान की आवश्यकता' है, 'प्रेम करने की आवश्यकता' है, पर सचमुच हमारे अंदर यह आवश्यकता किसे महसूस होती है? अपने आप से इस कदर संतुष्ट इस क्षुद्र अहं को तो निश्चय ही नहीं, न बिचारे इस मानस को जो रात-दिन चक्कर ही खाता रहता है, और न ही इस मूर्ख प्राण को, जिसकी नीयत यही रहती है कि सबकुछ ले लूं और लेता ही जाऊं। पर पीछे की ओर जो यह अग्नि है, यह कभी मंद नहीं पड़ती। इसे ही यह आवश्यकता होती है क्योंकि इसे कुछ और भी स्मरण रहता है। हम कहते हैं उसे 'सान्निध्य', पर होता है वह एक दारुण अभाव, एक जीवित गड्ढा, जिसे हम अपने अंदर लिए घूमते हैं। वह जलता, बलता और तब तक ढकेलता रहता है, जब तक एक मूर्त सत्य नहीं बन जाता। इस संसार में एकमात्र उसका ही अस्तित्व यथार्थ है, बाकी लोगों को देखें तो संशय होता है कि ये सचेतन जीव हैं या मिट्टी के पुतले! वह हमारा अग्निमय स्वरूप है, इस संसार में एकमात्र सच्चा अहं, एकमात्र वस्तु जिसका नाश नहीं होता। उपनिषद् में कहा है, 'हमारे अंतस्तल के मध्य में एक सचेतन पुरुष विराजमान है। वह भूत और भविष्य दोनों का स्वामी है। वह धूम्ररहित अग्नि के समान है... धैर्यपूर्वक उसे निज देह से अलग करना चाहिए।' वही है 'गुह्य विवर में बंद शिशु' जिसका वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, 'पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न देवपुत्र', 'सोये हुओं के बीच में जागरूक'। ऋग्वेद में यह भी वर्णन है—'वह गृह के मध्य में स्थित है', 'वह मानो हमारा जीवन है, हमारे अस्तित्व के लिए वह श्वासतुल्य है, वह हमारे शाश्वत शिशु के समान है', वह है 'तेजस्वी सम्राट जो हमसे छुपा हुआ था।' वही केंद्र है, स्वामी है, वही है वह स्थान जहां सबका मिलन होता है।

यदि हमें उस अंतरादित्य की अनुभूति हो चुकी है, इस ज्वाला का, इस जीवंत जीवन का भान हुआ है, (कितने ही निर्जीव जीवन भी होते हैं) चाहे सारे जीवन में एक पल के लिए ही क्यों न हो, तो सब-कुछ बदल जाता है। वह एक ऐसी याद है जिसके सामने अन्य सब फीका पड़ जाता है। वही *परम स्मृति* है। और यदि हम इस जाज्वल्यमान अग्नि के प्रति सच्ची निष्ठा बनाए रखें, तो वह हमारे हाड़-मांस में एक सजीव

सत्ता के समान उत्तरोत्तर बढ़ती जाएगी, मानो वह एक आवश्यकता हो जिसकी पूर्ति ही नहीं हो पाती। और वही हमारे अंदर अधिकाधिक केंद्रित, प्रतिबंधित होती जाएगी, एक टीस बन ज़ाएगी, मानो कोई चीज फूट पड़ने को कसमसा रही हो! 'श्री मां के शब्दों में— *वह बड़ा दुखदाई अनुभव है, लगता है कि कोई चीज रास्ता रोके खड़ी है और देखने और अंदर जाने तक नहीं देती। मनुष्य उसके बीच से निकल जाने की चेष्टा करता है, पर आगे दीवार आ जाती है। वह उस पर जोर-जोर से आघात करता है, बार-बार उसे धक्के देता है, पर.रास्ता नहीं बनता।* फिर उसकी आवश्यकता बहुत बढ़ जाने पर, बार-बार उसी की चाह होने के कारण जब यह कैद असह्य हो उठेगी, तब एक दिन चैत्य का दबाव उस हद पर जा पहुंचेगा कि वह रुख पलट देगा। तब हमें अनुभव प्राप्त होगा।' श्री मां आगे कहती हैं— *दबाव इतना अधिक बढ़ जाता है और यह प्रश्न इतने प्रबल रूप से उग्र हो उठता है कि चेतना के अंदर कोई चीज उलट जाती है। बाहर से अंदर झांकने का प्रयत्न करने के बदले मनुष्य अपने आपको अंदर पाता है, और ज्यों ही वह अंदर पहुंचा, उसी क्षण से सबकुछ, एकदम, पूरी तरह बदल जाता है। जो सब पहले सत्य, स्वाभाविक, सुसंगत, वास्तविक और स्पष्ट मालूम होता था वह तुरंत ही बहुत असंगत, असत्य, बेढब, बेसिर-पैर लगने लगता है। किंतु एक ऐसी वस्तु का स्पर्श मनुष्य को मिल जाता है जो परम सत्य और शाश्वत सौंदर्य है और यह फिर कभी लुप्त नहीं होता।* ऋग्वेद में वर्णन है, 'हे अग्नि, हमारे द्वारा भली प्रकार वहन किए जाने पर तू हमारी सत्ता की परम वृद्धि और चरम विकास बनती है। सब तेज और सौंदर्य तेरे वांछनीय रूप में, तेरी परिपूर्ण दृष्टि में विद्यमान हैं। हे बृहत, तू ही वह परिपूर्णता है जो हमें मार्ग के अंत तक पहुंचाती है, तू सब ओर बिखरे हुए ऐश्वर्यों का पुंज है।' तब सच्चा जीवन खिल उठता है, मानो पहले कभी प्रकाश देखा ही न था। श्री मां कहती हैं— *प्रिज्म (त्रिपार्श्वकाच) को एक ओर से देखो तो प्रकाश श्वेत दिखता है, उसका रुख बदल दो तो प्रकाश विघटित हो जाता है। बस, ठीक यही होता है : तुम उसे पुनः पूर्ववत् श्वेत बना लेते हो। साधारण चेतना में होता है विघटन और तुम फिर से श्वेत की स्थापना करते हो।* श्री मां इसी अनुभव की आगे व्याख्या करती हैं— *मानो मनुष्य कांसे के भारी बंद किवाड़ों के सामने बैठा हो और यह संकल्प लेकर कि दूसरी ओर जाने के लिए द्वार खुल जाए, वह वहीं बैठा रहता है। तब उसका सारा ध्यान और सारी अभीप्सा एकत्र हो एक पुंज सदृश बन जाते हैं और इस द्वार को धकेलने लगते हैं; वे पहले से अधिक, फिर और भी अधिक शक्ति लगाकर धकेलते हैं और धकेलते ही जाते हैं। फिर यकायक द्वार खुल जाता है और मानो धक्का खाकर मनुष्य प्रकाश में प्रविष्ट होता है।*

तब होता है उसका यथार्थ जन्म! ❖

महासभा का 87वां वार्षिक......पृष्ठ 26 का शेष

उपासना कक्ष स्थापित करने के लिए दस चित्रों का एक सैट महासभा की ओर से तैयार किए जाने व 'उपासना-कक्ष' पुस्तक के प्रकाशन और देश भर में इसकी मांग का जिक्र करते हुए इसके संपादक शासनगौरव मुनिश्री मधुकरजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई।

समाज में उल्लेखनीय कार्यों के लिए संबोधन अलंकरण प्राप्त महानुभावों के प्रति भी प्रतिवेदन में साधुवाद प्रकट किया गया।

तेरापंथी महासभा, अ.भा. तेरापंथी युवक परिषद, अ.भा. तेरापंथी महिला मंडल के लाडनूं में संपन्न संयुक्त अधिवेशन (17-19 सितम्बर 2000) की जानकारी भी प्रतिवेदन में दी गई।

महासभा की ओर से संचालित होम्योपैथिक औषधालय, पुस्तकालय व वाचनालय, छात्रवृत्ति, कंप्यूटर-प्रशिक्षण आदि गतिविधियों के बारे में भी जानकारी दी गई।

महासभा के कोलकाता स्थित भवन के बेहतर उपयोग, उसके सौंदर्यकरण-नवीनीकरण आदि कार्यों में सहयोगी रहे महानुभावों का प्रतिवेदन में जिक्र करते हुए उनके प्रति साधुवाद प्रकट किया गया है।

प्रतिवेदन में आचार्यप्रवर, युवाचार्यश्री, साध्वी प्रमुखाजी के मार्गदर्शन व संबल के लिए उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई, वहीं मुनिश्री मधुकरजी, मुनिश्री धर्मरुचिजी, मुनिश्री धनंजयकुमारजी के प्रति निरंतर दिशा-निर्देश प्राप्त होने के लिए भी कृतज्ञता प्रकट की गई। इसी तरह महामंत्री ने महासभा के सभी पदाधिकारियों, प्रमुख न्यासी व अन्य सभी महानुभावों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित किया, जिनके सहयोग से महासभा की गतिविधियां सफलतापूर्वक संचालित होती रही हैं।

धर्म अरूप तत्त्व है। उसे लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए रूप देना जरूरी होता है। विचारों के वाहन पर बिठा देने से वह रूपवान बन सकता है। उसका रूप अनाविल और हृदयहारी रहें—इसके लिए विचारों को समन्वय के 'फ्रेम' में व्यवस्थित करने की अपेक्षा रहती है। असमन्वित विचारधारा से प्रवाहित तरंगें समग्र वातावरण का संतुलन तोड़ सकती हैं। इस दृष्टि से भगवान महावीर ने समता और समन्वय पर विशेष बल दिया।

महावीर के सूत्र : समता और समन्वय

□ आचार्यश्री तुलसी □

भगवान महावीर ने गृहस्थ जीवन की इयत्ता और मुनिर्जीवन के प्रारंभ के साथ ही मनः पर्यवज्ञानावरण को क्षीण कर विशिष्ट ज्ञान-संपदा का वरण कर लिया। अपने जीवन के तीन दशक उन्होंने राजपरिवार में बिताए। गृह-जीवन त्यागकर मुनि बनना उनकी नियति थी। फिर भी तीस वर्षों तक वे स्नेह के सूक्ष्म बंधन को काट नहीं पाए। अपनी होनी को वे पहचानते थे। किंतु काललब्धि का योग मिले बिना कृतकाम नहीं हो सकते। यद्यपि उस समय इस ज्ञान का कोई अतिरिक्त उपयोग नहीं था, क्योंकि वे ज्ञान के आखिरी आवरण को हटाकर स्वपरावभासी बनने की दिशा में प्रस्थान कर चुके थे। इसलिए उनका सारा पुरुषार्थ उसी दिशा में प्रवाहित हो रहा था। फिर भी किसी समनस्क प्राणी की मनःस्थिति में आने वाला उतार-चढ़ाव उनसे अज्ञात नहीं रह पाता था।

जैन-दर्शन में मनःपर्यवज्ञान एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान के द्वारा मानवीय मनःस्थितियों का जितना सूक्ष्म और यथार्थ विश्लेषण हो सकता है, उतना मनोविज्ञान से संभव नहीं है। अलबत्ता ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं में मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह मानव-मन को समझने का बहुत सशक्त आधार है। मनोविज्ञान चेतन-मन और अवचेतन-मन में जमी हुई विचार-परतों को कुरेदकर भावबोध उत्पन्न करता है, किंतु जिसकी परतें अधिक सघन होती हैं, उसके भावबोध की यात्रा भी काफी कष्ट-साध्य हो जाती है। जिस व्यक्ति के बारे में हम जानना-समझना चाहते हैं, उसका पूरा सहयोग न हो तो कई बार प्रयत्न विफल भी हो सकते हैं। इसके विपरीत मनःपर्यवज्ञान मानसिक परिवर्तनों के सूक्ष्म, सूक्ष्मतम घटक को इतनी कुशलता से पकड़ता है कि उससे मन का कोई भी कोना अछूता नहीं रहता, पर इस विज्ञान का प्रशिक्षण किसी विश्वविद्यालय में नहीं होता। शिक्षा-जगत की सीमाएं हैं और ज्ञान की धाराओं का कहीं कोई आरपार नहीं है। पुस्तकीय शिक्षा से इस विज्ञान का संबंध है भी नहीं। इसके लिए कुछ करने की नहीं, अनावृत होने की जरूरत है। चैतन्य का आवरण जितना-जितना हटता है, उतना ही ज्ञान निर्मल हो जाता है। यह ज्ञान सृजनात्मक नहीं, संवेदनात्मक होता है। इसको प्राप्त करने में पुरुषार्थ के साथ अध्यात्म की पहचान भी जरूरी है। एक अध्यात्मचेता व्यक्ति ही मनःपर्यवज्ञानी बनकर अपनी ज्ञान-चेतना का विकास व उपयोग कर सकता है। अध्यात्म का धरातल पुष्ट न हो तो इस ज्ञानोपलब्धि से खतरों की संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता।

बुराई का उत्स

मनुष्य दुष्प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी बुरी प्रवृत्ति कौन-सी प्रेरणा की परिणति है? इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए भगवान महावीर के शाश्वत स्वरों की अनुगूंज हुई—अपने वर्तमान जीवन को सुख-संपदा से परिपूर्ण देखने की अबूझ चाह ही मनुष्य को दुष्प्रवृत्ति की ओर ले जाती है। आत्मख्यापन की मनोवृत्ति भी ऐसा हेतु है जो करणीय, अकरणीय के भेदविज्ञान को समाप्त कर देता है। पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान की कामना में उलझा हुआ व्यक्ति भी ऐसी प्रवृत्ति कर बैठता है जो दूसरों के लिए पीड़क और घातक हो सकती है। उसकी इच्छा-तरंगें जिस दिशा में उच्छ्वसित होती हैं वहां स्वार्थ, भय और प्रलोभन की संज्ञा पुष्ट हो जाती है। सुविधावादी मनोवृत्ति में उलझने वाला अपने विवेक के

चिराग को बुझाकर तिमिस्रा के अपरंपार सागर में बह जाता है, जहां इच्छाओं और आकांक्षाओं के विस्तार से सुख पा लेने का उसका अक्षत विश्वास तार-तार हो जाता है। आत्मविश्वास चुक जाने के बाद व्यक्ति का मंजिल की ओर बढ़ता हुआ कदम भी थम जाता है और वहां व्याप्त हो जाता है बिखराव और टूटन से भरा बोझिल वातावरण।

हिंसक मनोभावों के कारण

संसारी प्राणी में मुख्य रूप से तीन एषणाएं होती हैं—पुत्र, धन और जीवन। ये तीनों एषणाएं अलग-अलग भी हो सकती हैं और युगपत् भी। इनकी पूर्ति के लिए मनुष्य हिंसा का सहारा लेता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसके मन में जो आक्रामक भाव उत्पन्न होता है उसकी परिणति आक्रोश, विद्रोह अथवा उन्माद के रूप में होती है। भगवान महावीर ने हिंसक मनोभावों की उत्पत्ति के हेतुओं का विश्लेषण करते हुए कहा—सुरक्षा, प्रतिशोध और अनिष्ट की संभावना को टालने के लिए व्यक्ति हिंसा का अस्त्र हाथ में लेता है।

जिस समय व्यक्ति देखता है कि आक्रांता सिर पर सवार होने को है और बचाव का कोई रास्ता नहीं है, उस समय वह सुरक्षात्मक कार्यवाही के लिए हिंस्र हो उठता है। यदि उस परिस्थिति में उसे त्राण का आश्वासन मिल जाता है तो उसकी हिंस्रता बदल सकती है। किंतु जिसका कोई भी त्राण या आलंबन नहीं होता, वह क्रूर और हिंसक मनोभावों का शिकार हो जाता है।

हिंसा का दूसरा प्रबल कारण है—प्रतिशोध। किसी व्यक्ति या निमित्त के द्वारा जब प्राणी के हितों का विघटन होता है और उसका प्रतिरोध करने की क्षमता उसमें नहीं होती, तो अवश होकर वह उस परिस्थिति को तो बर्दाश्त करता है, किंतु भीतर ही भीतर विद्रोह की चिनगारियां सुलगने लगती हैं, जो समय पाकर विस्फोटक रूप धारण कर लेती हैं। डाकुओं द्वारा की जाने वाली लूटपाट और हत्याओं के पीछे प्रायः प्रतिशोध की यही भावना काम करती है। पारिवारिक समस्याओं के संदर्भ में भी बहुत बार प्रतिशोध की ऐसी ही वृत्ति का प्रमुख हाथ रहता है। जब तक मन में प्रतिशोध की आग प्रज्वलित रहती है, व्यक्ति न स्वयं शांति से जी सकता है और न उससे संबंधित व्यक्तियों को शांति मिलती है।

हिंसा का तीसरा कारण है—आशंका। हर प्राणी में जिजीविषा होती है। अपने जीवितव्य में जहां भी उसे अनिष्ट की आशंका होती है, वह चाहे-अनचाहे आक्रांता बन जाता है। आशंका यथार्थ भी हो सकती है और अयथार्थ भी। आशंका-निरसन के कुछ उपाय भी होते हैं। किंतु यह प्राणी जगत की और उसमें भी मानवजाति की दुर्बलता है कि आशंका के हेतुओं का औचित्य प्रमाणित हुए बिना ही प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है। प्रतिक्रिया-मुक्त जीवन जीना आ जाए तो आशंका और प्रतिशोध की मनोवृत्ति का परिष्कार हो सकता है। इसके लिए भगवान महावीर ने 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—स्वयं सत्य की खोज करो—यह सूत्र दिया। जो व्यक्ति सत्य की खोज में समर्पित हो जाता है, वह हर क्षण को समग्रता के साथ जीता है। जो समग्रता से जीता है, वह प्रतिक्रिया नहीं कर सकता। प्रतिक्रिया-शून्यता की स्थिति में ही आशंका और प्रतिशोध-भावना का निरसन हो सकता है।

आत्म-साक्षात्कार

भगवान महावीर सत्य के प्रति समर्पित थे। उनके मन में सत्य को उपलब्ध करने की समीहा जगी और वे आत्मकेंद्रित बन गए। विकेंद्रित चेतना में सत्य का अवतरण नहीं हो सकता, इसलिए वे 'एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे' हो गए। सब विरोधी दिशाओं का पार पाकर वे एक लक्ष्य के अभिमुख होकर चल पड़े। जिस लक्ष्य के प्रति उन्होंने अपनी चेतना केंद्रित की, वह था 'आत्म-साक्षात्कार'। साक्षात्कार के बिना जिस सत्य की चर्चा की जाती है वह आत्मप्रसूत या अनुभूत नहीं होता, आयातित होता है। महावीर आयातित या उधार सत्य को बोलना पसंद नहीं करते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अपने पुरुषार्थ का प्रयोग किया और वे सफल हो गए।

उन्होंने देखा, आत्म-साक्षात्कार की सबसे बड़ी बाधा है बंधन। राग और द्वेष के बंधन जब तक सघन होते हैं, पुरुषार्थ का प्रयोग भी फलवान नहीं होता। बंधन-मुक्ति के लिए उन्होंने उत्कृष्ट साधना का पथ स्वीकार किया। सब प्रकार के पाप-कर्म करने का परित्याग कर उन्होंने ध्यान, मौन, तपस्या, सहिष्णुता आदि आलंबनों को पकड़ा। दूसरों के सहयोग से साधना कर सत्य को पाना उन्हें इष्ट नहीं था, इसलिए वे अकंप भाव से अकेले ही चलते रहे और तब तक चलते रहे जब तक सत्य उपलब्ध नहीं हो गया, आत्म उपलब्ध नहीं हो गया, आत्म-साक्षात्कार नहीं हो गया।

भगवान महावीर की साधना को निखार देने में कभी चंडकौशिक निमित्त बना, कभी संगम प्रेरक बना तथा कभी अन्य परिस्थितियों का योग रहा, किंतु वास्तविकता यह है कि

उनकी सफलता का श्रेय स्वयं उनकी साधना को ही है। बारह वर्ष की कठोर साधना के बाद उनके सारे बंधन टूट गए। उनका आत्मज्ञान अनावृत हो गया और आत्म-साक्षात्कार का संकल्प पूरा हो गया।

अंतःसाक्षात्कार की फलश्रुति

भगवान महावीर का जीवंत व्यक्तित्व उनके बाह्य परिवेश में नहीं, अंतःकरण साक्षात्कार के क्षणों में ही रचा गया है। उनके दैहिक शौर्य में अलौकिक पराक्रम की सत्ता उनके पुरुषार्थ-प्रधान दर्शन की अविकल झलक लिए हुए है। वे सत्य के स्वयंभू प्रकाश थे। इसलिए उनकी प्रवचनधारा में मान्यताओं का आग्रह नहीं, अनुभूतियों की सरसता थी। उन्होंने सत्य को किसी परिभाषा की सीमा में आबद्ध नहीं किया, इसलिए उन्होंने जो कुछ कहा, वह सत्य बनकर उद्‌भासित हो गया। वे मानव-मन की गुत्थियों का रहस्य समझते थे। इसलिए उन्होंने सत्य को पकड़ने की एक ही दृष्टि नहीं दी। उनके द्वारा निदर्शित अनेकांत का पथ मानस विज्ञान को समझने का बहुत ही सरल और प्रशस्त पथ है। इस दृष्टि से भगवान महावीर के व्यक्तित्व में एक संपूर्ण मनोवैज्ञानिक का अस्तित्व उजागर हो जाता है।

भगवान महावीर के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है और बहुत कुछ लिखा जा रहा है। किंतु उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व इतना असीम है कि उसका अंशभर ही अभिव्यक्त हो पाया है। महावीर को समग्रता से पहचान लेना और जनता के सामने उजागर कर देना अभी शेष है। दूसरी बात यह भी है कि उनको जानने और पहचानने से होगा भी क्या? आखिर तो उन्होंने जिस तत्त्वदर्शन का निरूपण किया है, उसे जानने, पहचानने और जीने से ही अंतःसाक्षात्कार हो सकता है।

आत्म-साक्षात्कार के वे प्रथम क्षण कितने आह्लादक रहे होंगे जब महावीर कृतकाम हुए थे। उन्हीं क्षणों में उनकी वाणी ने समता और समन्विति का संगान किया। उन्होंने कहा—जीवन के दो आधार हैं, आचार और विचार। आचार की पृष्ठभूमि है समता और विचार-विकास की प्रयोगशाला है समन्विति। जिस व्यक्ति के जीवन में समता और समन्वय नहीं है, वह साधना की ऊंचाई तक नहीं पहुंच सकता। अखंड समता और अखंड समन्वय की ऊंचाई पर खड़े होकर महावीर ने कहा—खंडित समता से अखंड चेतना की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। टुकड़ों-टुकड़ों में बंटी चेतना सत्य को विभक्त कर देती है। इसलिए धर्म या साधना के लिए समता को समझना नितांत अपेक्षित है।

समता-समन्वय पर बल

धर्म अरूप तत्त्व है। उसे लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए रूप देना जरूरी होता है। विचारों के वाहन पर बिठा देने से वह रूपवान बन सकता है। उसका रूप अनाविल और हृदयहारी रहे—इसके लिए विचारों को समन्वय के 'फ्रेम' में व्यवस्थित करने की अपेक्षा रहती है। असमन्वित विचारधारा से प्रवाहित तरंगें समग्र वातावरण का संतुलन तोड़ सकती हैं। इस दृष्टि से भगवान महावीर ने समता और समन्वय पर विशेष बल दिया।

समता और समन्वय के खंभों पर संगठन का प्रासाद खड़ा हो सकता है। भगवान महावीर ने समता और समन्वय के साथ संगठन को भी विशेष प्रतिष्ठा दी। कुछ विचारकों के अभिमत से संगठन हिंसा का प्रतीक है। पर महावीर के दर्शन में यह स्वर कहीं भी मुखर नहीं है। उन्होंने सत्य को उपलब्ध करते ही संगठन को अपनी स्वीकृति दे दी। आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं उन सबने ऐसा ही किया है। क्योंकि तीर्थंकर बनने की पहली शर्त ही है 'तीर्थ' अर्थात् संघ की स्थापना। जहां संघ है वहां संगठन की अनिवार्यता है। कोई भी व्यक्ति अकेला रहकर साधना करे, वहां तो संगठन का मूल्य नहीं, किंतु संगठन के अभाव में सामूहिक साधना अपनी तेजस्विता को मंद कर देती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि साधना संगठन के लिए ही है। साधना के लिए संगठन का जो उपयोग है, उसी को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने एक संगठित धर्म-संघ का प्रवर्तन किया था।

भगवान महावीर का दर्शन सार्वभौम और मौलिक दर्शन है। उनकी राग-द्वेष-मुक्त चेतना पर जो दार्शनिक प्रतिबिंब उभरे, वे विश्वजनीन हैं। उनके दर्शन के प्रति आस्थाशील हर व्यक्ति का यह दायित्व है कि सबसे पहले वह स्वयं अपने पर आस्थाशील हो, क्योंकि आस्थाशील व्यक्ति ही अपने आस्था-केंद्र को सच्ची श्रद्धा समर्पित कर सकता है। जिसे स्वयं पर आस्था नहीं, वह किसी के प्रति अपनी आस्था का दीप कैसे जला सकेगा? 'महावीर जयंती' के पुण्य पर्व पर हम उन्हें उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में देखने, पढ़ने और समझने के लिए अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करें। उनके पुरुषार्थ की चमक जन-जन के पुरुषार्थ को जागृत करे। जीवन में समता और विचारों में समन्वय की पुट देकर संगठन को अपनी साधना का आधार मानने वाला व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की दिशा में दो-चार कदम भी आगे बढ़ जाता है तो वह महावीर के दर्शन से पूरा-पूरा लाभान्वित हो सकता है। ❖

शस्त्र परिसीमन की अनेक बार चर्चाएं होती हैं। सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर करने हेतु कई प्रयत्न किए गए, पर अनेक अड़चनों के चलते अब तक प्रयत्न निष्फल ही रहे हैं, यह भी एक पहलू है कि आज किसी को किसी पर भरोसा नहीं है। परस्पर एक-दूसरे का भय है। जब तक भय है, हिंसा का द्वार बंद नहीं हो सकता। शस्त्रों को सागर की गहराई में भी विसर्जित कर दें, फिर भी समस्या का समाधान नहीं है। जब तक व्यक्ति के भीतर में हिंसा के भाव हैं, नए शस्त्र तैयार होते रहेंगे। पहले शस्त्र भीतर में तैयार होते हैं फिर बाहर आकार लेते हैं।

निशस्त्रीकरण का मंत्र—अहिंसा

□ साध्वी संघमित्रा □

जैनागम का एक सूत्र है—'सुय साया दुह पडिकूला'—प्रत्येक व्यक्ति को सुख प्रिय है। दुख को कोई पसंद नहीं करता। ऋषि-मुनियों की यह तपोपूत अनुभूत वाणी शाश्वत सत्य की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

यथार्थतः प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति, प्रत्येक मानव की साधना, चर्या, क्रिया-प्रतिक्रिया सुख के साथ जुड़ी है। साधारण मानव तो क्या, राष्ट्र के अधिनेता भी यही कामना करते हैं कि मेरा राष्ट्र संपन्न हो, समृद्ध हो, अधिक से अधिक शक्तिशाली और सुखी बने। सुख की चाह जितनी सुलभ है, सुख की खोज उतनी सुलभ नहीं है।

आज मानव वैज्ञानिक युग में जी रहा है और अगणित सुख-सुविधादायी साधनों से संपन्न इस युग में भी मानव भीतर से बेचैन है। समग्र विश्व में किसी न किसी रूप से अशांति की लहर व्याप्त है। विश्वशांति का प्रश्न इसीलिए तीव्रता से उभरता जा रहा है। विश्वशांति में ही प्रत्येक राष्ट्र और व्यक्ति की शांति सुरक्षित है।

समस्याओं के समाधान के लिए सामान्यतः व्यक्ति के पास दो ही मार्ग हैं—एक हिंसा का, दूसरा अहिंसा का। विश्व के हर दर्शन और धर्म ने किसी न किसी रूप में अहिंसा का अमर संदेश दिया है। सभी धर्मों के उपदेशों का निचोड़ एक ही है—अहिंसा जीवन है, हिंसा मृत्यु है। अहिंसा प्रकाश है, हिंसा अंधकार है। प्रकाश की एक रश्मि में जो शक्ति है वह सघन अंधकार में नहीं। प्रेम, मैत्री और स्नेह की धार में जो शक्ति है वह तलवार में नहीं है। सुलगती हुई एक चिनगारी घास-फूस के ढेर को नष्ट कर देती है। दूसरी ओर प्रकाश की किरणें जहां भी पहुंच जाएं, घने से घना अंधकार भी वहां टिक नहीं सकता। महात्मा गांधी ने राजनीति के क्षेत्र में भी अहिंसा के सफल प्रयोग किए। उन प्रयोगों ने विश्व की बड़ी ताकतों को हिला दिया। परतंत्रता की बेड़ियां खनखना कर टूट पड़ीं।

अहिंसा महान शक्ति है। अहिंसा स्वभाव है, हिंसा परभाव है। अहिंसा में सहजता है, स्थिरीकरण है। हिंसा में तनाव है, कुंठा है। तनाव आखिर तनाव है। तनाव की स्थिति में व्यक्ति अधिक समय तक रह नहीं सकता। क्रोध हिंसा है, आक्रोश हिंसा है। क्रोध में व्यक्ति जा सकता है, वहां ठहर नहीं सकता। ठहराव अहिंसा में है, ठहराव मैत्री में है, ठहराव प्रेम में है, स्वभाव में है। अहिंसा में क्षमा है। अहिंसा स्थिति है। हिंसा मानवजनित परिस्थिति है। जब-जब व्यक्ति स्वभाव से परभाव में जाता है, उत्तेजना और आक्रोश में होता है, ईर्ष्या और घृणा से संयुक्त होता है, किसी अन्य को तिरस्कृत करने के मूड में होता है, अहंकार के शिखर पर चढ़ने की मुद्रा में होता है, तब-तब वह हिंसा के मैदान में होता है। हिंसा पागलपन है, दुर्बलता है। बल-हीन, भयभीत और कमजोर व्यक्ति अहिंसा के राजपथ पर चलने की हिम्मत जुटा नहीं पाता है। हिंसा दैत्य शक्ति का विकास है तो अहिंसा जीवन में दैविक गुणों का विकास है। अहिंसा जीवन की समरसता है। स्वस्थ, सरस एवं संतुलित जीवनशैली का एकमात्र आधार है—अहिंसा।

अहिंसा वह वटवृक्ष है जिसकी शीतल छाया में बैठकर व्यक्ति अलौकिक आनंद की अनुभूति करता है। अहिंसा वह संजीवनी है जिससे नई प्राण-शक्ति का संचार होता है।

अहिंसा वह ओषधि है जिससे आधि, व्याधि, उपाधि समाप्त हो जाती है और व्यक्ति को अपूर्व समाधि प्राप्त हो जाती है। अहिंसा का दीप जलते ही मन-मंदिर का कोना-कोना जगमगा उठता है। हर प्राणी के साथ एकात्मता का भाव जागृत हो जाता है।

अहिंसा की नींव पर ही निर्मित है परिवार, समाज और राष्ट्र। अहिंसा के बिना जीवन-व्यवहार चल नहीं सकता; और तो और, राष्ट्रीय एकता की कड़ियां भी कमजोर हो जाती हैं। विश्व का अस्तित्व अहिंसा के कारण ही बना रह सकता है।

व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय स्तर की अनेक पेचीदा समस्याओं का समाधान अहिंसा में अंतर्निहित है।

परंतु यह सोचनीय विषय है कि आज मानव की अहिंसा के प्रति आस्था डगमगा रही है। क्या अहिंसा के द्वारा युद्ध को रोका जा सकता है? मानव जाति कैसे विश्वस्त बने कि भविष्य में भयावह विस्फोटकों का प्रयोग नहीं होगा? विश्वयुद्ध की पुनरावृत्ति नहीं होगी? लगने लगा है कि जैसे हिंसा अपरिहार्य अंग बनती जा रही है।

जिस भारत-भूमि पर भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का बिगुल बजाया, जिस धरती के कण-कण में 'अहिंसा परमो धर्मः' का उद्घोष गूंजता रहा, उसी भारत-भू पर भी हिंसा पहले से अधिक धधक रही है। राष्ट्र की रक्षा के लिए भी नए-नए हथियार तैयार हो रहे हैं। ऐसे-ऐसे विस्फोटक शस्त्र निर्मित कर लिए हैं कि जिनसे पूरी मानवजाति का अस्तित्व खतरे में है। बड़े पैमाने पर हिंसा के प्रशिक्षण केंद्र चल रहे हैं। आत्मघाती दस्ते तैयार हो रहे हैं। पूरी मानवजाति अकाल मृत्यु के मुहाने पर खड़ी है। आदमी आदमी का दुश्मन बन रहा है।

इसी के साथ आज निःशस्त्रीकरण की बात भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर महत्त्वपूर्ण बन गई है। शस्त्र परिसीमन की अनेक बार चर्चाएं होती हैं। सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर करने हेतु कई प्रयत्न किए गए, पर अनेक अड़चनों के चलते अब तक प्रयत्न निष्फल ही रहे हैं। यह भी एक पहलू है कि आज किसी को किसी पर भरोसा नहीं है। परस्पर एक-दूसरे का भय है। जब तक भय है, हिंसा का द्वार बंद नहीं हो सकता। शस्त्रों को सागर की गहराई में भी विसर्जित कर दें, फिर भी समस्या का समाधान नहीं है। जब तक व्यक्ति के भीतर हिंसा के भाव हैं, नए शस्त्र तैयार होते रहेंगे। पहले शस्त्र भीतर तैयार होते हैं फिर बाहर आकार लेते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसी संदर्भ में एक बार कहा था—'यत्र-तत्र शांति के संदर्भ में विचार और चिंतन चलता है, पर अहिंसा को गौण कर दिया जाता है। अहिंसा की प्रतिष्ठा के बिना शांति संभव नहीं है। जब तक मनुष्य के भीतर आवेश, उत्तेजना, क्रूरता के भाव प्रबल हैं—तब तक शांति का द्वार खुल नहीं सकता। भ्रष्टाचार में भी मनुष्य की क्रूरता का भाव स्पष्ट झलकता है।'

अहिंसा व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ती है। राष्ट्र की कड़ियों को मजबूत करती है। व्यक्ति अगर हिंसा की तरफ बढ़ता ही गया तो मानवजाति मृत्यु के कगार पर पहुंच जाएगी और विश्वशांति का सपना धरा ही रह जाएगा। अतः आज की परिस्थितियों में अत्यावश्यक है कि जिस प्रकार से हिंसक शक्तियां संगठित हो रही हैं, उन्हें प्रशिक्षित किया जा रहा है—विश्वभर में छाए आतंकवाद, अराजकता, शोषण, भ्रष्टाचार आदि से लोहा लेने के लिए, उसी प्रकार से अहिंसक शक्तियां संगठित हों। अहिंसा के भी प्रशिक्षण केंद्र चलें। अगर ऐसा नहीं हुआ तो हिंसक शक्तियां विश्व पर और अधिक हावी हो जाएंगी। विश्वशांति का सपना अधूरा ही रह जाएगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'अहिंसा समवाय' की योजना के माध्यम से अहिंसक समुदाय को संगठित करने का एक विनम्र प्रयत्न किया है। गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी का भी सपना था कि एक ऐसा मंच तैयार हो जहां अहिंसा व अनेकांत के प्रयोगों पर चिंतन-मनन हो। व्यक्ति के भीतर छुपे अहिंसा के बीजों को पल्लवित किया जाए और स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ समाज का निर्माण हो। व्यक्ति के व्यक्तित्व का रूपांतरण हो। वृत्ति शोधन के प्रयोग हों। अणुव्रत आंदोलन और प्रेक्षाध्यान उनके इसी सपने के साकार रूप हैं।

अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों द्वारा अहिंसा की आवाज बुलंद हो। अध्यात्म मंच से अहिंसक शक्तियां संगठित होकर विश्वशांति की दिशा में नई रणनीति तय करें और हिंसा के कारणों को खोजें। संगठन से नई ऊर्जा प्रकट होती है। राजस्थानी भाषा में एक कहावत है—'दो मिल बावन वीर'—दो व्यक्तियों की शक्ति के मिलन में बावन व्यक्तियों जितनी ताकत विकसित हो जाती है।

आज के हिंसा और कण-कण को कंपा देने वाले आतंक के माहौल में अहिंसक शक्तियों के संगठन की बात आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गई है। विश्व मंच पर अनेक प्रबुद्ध व्यक्तियों के चिंतन का निष्कर्ष है—अहिंसक शक्तियों के संगठित होने से धरती पर फिर सौहार्द व समन्वय का वातावरण तैयार होगा। अहिंसा की आवाज विद्युत तरंगों के प्रवाह की तरह ताकत के साथ समुद्रों पार पहुंचेगी और नए-नए अहिंसात्मक प्रयोगों से विश्वशांति की कल्पना एक रूप ले सकेगी। हर दीवाली खुशहाली लेकर धरती पर उतरेगी। ❖

'मृत्यु है ही नहीं, तो कहां से दूं! और मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है। उसे केवल जानो, वत्स! आत्मा हो तुम, अच्छंदक! तुम शाश्वत अस्ति हो। पाप नास्ति है, उसका अस्तित्व नहीं। वह केवल अज्ञानजन्य अभाव का अंधकार है। देख रहा हूं, तुम्हारे भीतर सतत प्रतिक्रमण चल रहा है। तुम अपने में लौट रहे हो। मृत्यु में मुक्ति कहां? वह अनंत अंधकार में भटकना है। पर तुम तो प्रकाश के तट पर आ लगे हो। इधर सामने देखो। तट तुम्हारी प्रतीक्षा में है।...'

कहानी

अप्प दीपो भव

◻ वीरेन्द्रकुमार जैन ◻

मैं तो कुछ बोलता नहीं। केवल देखता रहता हूं, जो भी सामने आए। जहां कहीं भी अंधेरा दीखता है, भीतर की रोशनी आपोआप प्रकट होकर उसे उजाल देती है। वातावरण में व्याप्त शब्द के परमाणु तब आप ही स्फूर्त हो कर उस प्रकाश को ध्वनित कर देते हैं। परावाक् वाक्मान हो उठते हैं। सो जब भी कहीं कोई प्रश्न उठाता है, तो आपोआप ही उत्तर अंतरिक्ष में से सुनाई पड़ जाता है। मैं भी उसे सुन कर अधिक संबुद्ध होता हूं, समाधान पाता हूं। हर प्रश्न के समक्ष मैं तो चुप ही रहता हूं, पर श्रोता को अचूक उत्तर सुनाई पड़ता है।

सब जगह जाना है। सबके पास जाना है। सो कहीं या किसी के पास जाने का चुनाव क्योंकर संभव है? जहां भी रिक्त है, कष्ट है, वहीं की पुकार मेरे पैरों को खींच ले जाती है। अपने से तो कहीं जाता नहीं, मानो ले जाया जाता हूं। जहां से भी आवाहन सुनाई पड़े, प्रस्तुत हो जाता हूं।

देख रहा हूं कि फिर मोराक सन्निवेश में आ निकला हूं। एक वटवृक्ष तले के चबूतरे पर सिद्धासन से बैठा हूं। उसकी शाखाओं में से फिर जड़ें फूट आई हैं। धरती की ओर बढ़ती हुईं, वे फिर उसी में समा जाना चाहती हैं। यह वृक्ष जहां से आया है, वहीं लौट जाना चाहता है। यह तो कोई आत्मज्ञानी लगता है। पर इसके भाव पर किसी की निगाह नहीं। सबकी निगाहें अपने भयों और इच्छाओं पर लगी हैं।

चबूतरे पर, तने के सहारे कई पूजित पत्थर पड़े हैं। हाय रे भवारण्य में भटकते मनुष्य का अज्ञान! जितने पत्थर हैं, उतने ही देव उसने बना लिए हैं। वह इनमें अपने दुखों से त्राण खोजता है। हर वृक्ष तले एक रुंड-मुंड पत्थर देव बना बैठा है। हर बस्ती की सीमा पर कोई साधु आश्रम बनाकर, गुरु के आसन पर विराजमान हो गया है। हर वृक्ष का पत्ता शास्त्र हो गया है। अज्ञानी जन, अपने संसारी परितापों से उबरने के लिए इनके चरणों में शरणागत होते हैं। जो स्वयं ही भवतापों से त्रस्त हैं, वे औरों के तारनहार बनकर बैठे हैं। मूढ़ जनता को प्रवंचित कर, वे अपनी शिश्नोदर की भूख-प्यासों को तृप्त कर रहे हैं।

भव्य आर्यावर्त का ज्ञानसूर्य इस समय अस्तप्राय है। इस अज्ञानांधकार में परंपरागत धर्म-ज्योति के सिंहासन पर छद्म देव, गुरु और शास्त्र ने अधिकार जमा लिया है। सत्ता और संपदा के स्वामियों ने अपने वैभव से इन तेजोहीन मिथ्या गुरुओं को खरीद लिया है। शाश्वत धर्म की ज्योति मुट्ठीभर उच्च वर्गों के ठेके की वस्तु हो गई है। राजा, पुरोहित और वणिक मिल कर धर्म की ओट अपने स्वार्थ-पोषण और शोषण का व्यापार अनर्गल भाव से चला रहे हैं। व्यभिचारी और अनाचारी साधु के वेश में गुरु के आसन पर बैठ कर त्याग और तप का उपदेश प्रजा को पिला रहे हैं। वे सम्पत्तिशालियों के क्रीतदास हैं और गरीब प्रजा की उन तक पहुंच नहीं। वे गरीब को सदा गरीब और अज्ञानी ही रखना

चाहते हैं। पुण्य-पाप के मनगढ़ंत मिथ्या शास्त्र रचकर, वे अपने श्रीमंत यजमानों के पुण्य का रात-दिन जयगान कर रहे हैं। श्रमिक, शूद्र और चांडाल के लिए वेदवाणी सुनने का निषेध कर दिया गया है।

सो बहुसंख्यक निम्नवर्गीय प्रजा अपढ़ और अज्ञानी है। वह मूढ़ता और अंधविश्वासों के अंधकार में भटक रही है। अपने ही भयों और अज्ञानों को वह देवता बना कर पूज रही है। विषमय वासनाओं से पीड़ित भूत-प्रेतों, व्यंतरों और यक्षों को, वह उजाड़ों, वन-खंडों, खंडहरों, वृक्षों और जलाशयों में पूजती फिर रही है। अरे कौन समझेगा इन अज्ञानी भवजनों की वेदना? कौन इन अंधेरे में भटकते संत्रस्त संसारियों को अज्ञान और अंधविश्वासों के तिमिरपाश से मुक्त करेगा?...कौन इस तमसा में ज्ञान का दीपक जलाएगा?

❐

...देखा कि एक ग्वाला अपनी गायों को जंगल में चरती छोड़, मेरी ओर चला आ रहा है।

'नमोस्तु, भंते श्रमण...!'

'धर्मलाभ करो, गोपाल।'

'तन-मन की, जन-वन की सब कथा जानते हो, स्वामी! कुछ मेरे जी की बताओ।'

'तेने सोवीर और कंगकूर का भोजन किया है, आयुष्यमान! तेरा गोधन कोई चुरा ले गया है। अभी रास्ते में सांप पर तेरा पैर पड़ गया था और पिछली रात सपने में तू बहुत रोया, वत्स...।'

'अंतर्ज्ञानी हो, नाथ! आपका दर्शन पाकर दीन जन धन्य हो गया। मेरे सब कष्ट हरो, स्वामी! मेरे दुख दूर करो।'

'अपने को जान, वत्स! तेरे सब दुख आप ही दूर हो जाएंगे।'

'कैसे अपने को जानूं, भंते! मैं तो अज्ञानी हूं।'

'केवल अपनी ओर देख, वत्स! केवल अपने में रह। तेरी शरण तू स्वयं ही है। अन्य कोई तेरी शरण नहीं, तेरा स्वामी नहीं। तू ही अपना स्वामी है।'

'स्वामी...!'

'अप्प दीपो भव! अपना दीपक आप ही हो जा रे...!'

ग्वाला भावित हो कर गांव की ओर दौड़ गया। वह ग्रामजनों को एकत्र कर हर्षावेग में अपनी आपबीती सुनाने लगा। बोला कि—'अहो, सुनो रे सब शुभ वार्ता! हमारे गांव के भाग खुल गए। हमारी सीमा पर एक त्रिकालवेत्ता देवार्य आए हैं। तन-मन की सब जानते हैं। विपल मात्र में जी का सारा दुख-क्लेश हर लेते हैं।'

ग्रामजन सुन कर गद्गद् हो गए। पूजा-सामग्रियों के थाल सजाए मेरे पास दौड़े आए। मेरे सामने अक्षत-फूलों के ढेर लग गए।

'भंते श्रमण, हमारे ग्राम में भी आपके समान ही एक सिद्ध-पुरुष रहता है। वह अगम-निगम के भेद जानता है। जो हुआ और जो होने वाला है, सब बता देता है। तंतर, मंतर, जंतर सब विद्याओं का वह पारगामी है।'

'अच्छंदक...!'

'वही स्वामी, वही। आप तो लोकालोक की सब जानते हैं!... अच्छंदक ही हमारे गांव का गुरु है। हम उसे अच्छा-बाबा कहते हैं।'

'वह तुम्हारा अच्छा-बाबा, सच्चा-बाबा भी है क्या?'

'सब सच-सच बता देता है, भंते! और सारे दुख दूर करने के उपाय भी बता देता है।'

'तुम्हारे दुख दूर हो गए, आयुष्यमान्?'

गांव का मुखिया बोला : 'अब भंते, वह तो ऐसा है कि जैसा जजमान, जैसा उसका दान, वैसा उसका त्राण...।'

'पाषंड ... पाषंड ... पाषंड। अज्ञान ... अज्ञान ... अज्ञान...। केवल तुम स्वयं ही कर सकते हो अपना त्राण। और सब प्रवंचना और कुज्ञान। पाओ अपने आप का ज्ञान। आपको ध्याओ, आपको पूजो, आपको प्रेम करो। आप ही बनो अपने भगवान। आपोआप पा जाओगे सब दुखों से निर्वाण।'

आश्चर्यचकित लोगों की भेड़िया-धसान गांव में लौट कर अच्छंदक के पास पहुंची। बोले कि : 'गुरुजी, गांव बाहर जो देवार्य आकर ठहरे हैं, वे त्रिकालज्ञानी हैं। तुम तो कुछ जानते नहीं, पाखंड करके हमें ठगते रहते हो!' अच्छंदक भयभीत हो उठा। बोला—'उस नग्न श्रमण को त्रिकालज्ञानी कहते हो! चलो तुम्हें दिखाऊं कि पाखंडी वह है या मैं हूं।'

क्रोध से उन्मत्त अच्छंदक ने श्रमण को पराजित करने की युक्ति मन ही मन सोच ली। कौतुकी ग्रामजनों से घिरा वह मेरे सम्मुख आया और दोनों हाथों की अंगुलियों के बीच एक घास का तिनका लेकर बोला—'बताओ तो त्रिकालज्ञानी श्रमण, यह तिनका मैं तोड़ सकूंगा या नहीं?' उसके मन में यह था कि श्रमण जो कहेगा, उसका ठीक उलटा मैं करूंगा, सो इसकी वाणी झूठ सिद्ध हो जाएगी।

अच्छंदक को उत्तर मिला : 'यह तिनका नहीं टूटेगा!'

अच्छंदक ने खेल-खेल में तिनका तोड़ देने की चेष्टा की।...पर मानो किसी अज्ञात वज्र से उसकी अंगुलियां स्तंभित, आहत हो रहीं। तिनका बिन टूटे ही अखंड धरती पर गिर पड़ा। ग्रामजन उल्लसित होकर देवार्य का जयकार करने लगे। इसी बीच निष्प्रभ, हताहत होकर अच्छंदक जाने कब वहां से भाग खड़ा हुआ। सहसा ही सुनाई पड़ा :

'यहां जो वीरघोषनामा सेवक है, वह सामने आए।'

'मैं वीरघोष, भंते।' और वह प्रणत हुआ।

'कभी तेरे घर में से दस पल परिमाण का एक पात्र खो गया था?'

'सत्य है, भगवन्!'

'अच्छंदक गुरु वह चुरा ले गए थे। तेरे घर के पीछे, पूर्व दिशा में जो सरगवा का वृक्ष है, उसके तले एक हाथ धरती खोदकर वह गाड़ दिया गया था। जाकर ले आ।' दौड़ा हुआ जाकर वीरघोष निर्दिष्ट स्थान से पात्र निकाल लाया। सबके सामने प्रस्तुत किया। ग्रामजन स्तब्ध। फिर सुनाई पड़ा :

'यहां कोई इन्द्रशर्मा नामक गृहस्थ है!'

'मैं इन्द्रशर्मा, प्रभु! क्या आज्ञा है?'

'भद्र, कभी तेरा एक मेंढ़ा खो गया था?'

'सो तो खो गया था, भंते!'

'अच्छंदक गुरु मेंढ़े को मार कर उसका आहार कर गए थे। उसकी अस्थियां बेर वृक्ष की दक्षिण दिशा में गड़ी हैं।'

कुछ लोगों ने वहां जाकर धरती खोदी तो सूचित अस्थियां साबित मिलीं। प्रमाण पाकर ग्रामजनों के हर्ष और विस्मय का पार नहीं।

'ग्रामजनो, बहुत हुआ। अपने गुरु का अंतिम दुश्चरित जानकर क्या करोगे...!'

'सत्य संपूर्ण कहें, प्रभु! ताकि हमारी मिथ्या दृष्टि और अंधश्रद्धा के अंधेरे सदा को फट जाएं।'

'तो अच्छंदक के घर जाकर, उसकी स्त्री से पूछो।'

कुछ लोग दौड़कर अच्छा-बाबा के घर उनकी स्त्री के पास जा पहुंचे। अपने पति के पाखंडों और दुराचारों से पहले ही वह बहुत जली-भुनी बैठी थी। सारी कथा सुना कर अंत में उसने अपने मन की व्यथा प्रकट कर दी :

'यह तुम्हारा गुरु और मेरा कहा जाता पति, अपनी बहन के साथ हर रात विषय-सुख भोगता है। मेरी इच्छा तो यह कभी करता नहीं।'

ग्रामलोक ने जब यह सत्य कथा सुनी, तो उनके प्रवंचित हृदय बहुत व्यथित हो उठे। किंतु फिर एक अपूर्व मुक्ति के बोध से आह्लादित हो वे सब आकर श्रमण के चरणों में लोट गए। कृतज्ञता से नीरव होकर बड़ी देर आंसू बहाते रहे।

अच्छंदक प्रवंचक और पापात्मा के नाम से सर्वत्र ख्यात हो गया। कहीं से भिक्षान्न पाना भी उसे मुहाल हो गया। जंगल के एकांत में पड़ा-पड़ा वह रो-रो कर अपने पापों का पश्चात्ताप करने लगा। श्रमण करुणार्द्र हो आए। लोक द्वारा परित्यक्त, निष्कासित उस एकाकी दीन-अकिंचन हो गए ब्राह्मण को सुनाई पड़ा :

'तुम्हें क्षमा किया गया, अच्छंदक। जब कोई तुम्हारा नहीं रहा, तो मैं तुम्हारा हूं, वत्स! आओ मेरे पास। मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा है।'

...दूर से ही राजसंन्यासी वर्द्धमान की कायोत्सर्ग में लीन, निर्दोष बाल्य मुख-मुद्रा पर उसने एक अति मृदु प्यार की मुस्कान देखी। वह सम्मोहित-सा खिंच आया और देवार्य के चरणों में समर्पित हो रहा।

'पापी शरणागत है, स्वामी! यह यातना असह्य है। दयाकर मुझे मृत्यु दें और मुक्त करें।'

'मृत्यु है ही नहीं, तो कहां से दूं! और मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है। उसे केवल जानो, वत्स! आत्मा हो तुम, अच्छंदक! तुम शाश्वत अस्ति हो। पाप नास्ति है, उसका अस्तित्व नहीं। वह केवल अज्ञानजन्य अभाव का अंधकार है। देख रहा हूं, तुम्हारे भीतर सतत प्रतिक्रमण चल रहा है। तुम अपने में लौट रहे हो। मृत्यु में मुक्ति कहां? वह अनंत अंधकार में भटकना है। पर तुम तो प्रकाश के तट पर आ लगे हो। इधर सामने देखो। तट तुम्हारी प्रतीक्षा में है।...'

'पा गया...पा गया...तट पा गया, प्रभु!'

'एवमस्तु...!'

❐

दक्षिण वाचाला सन्निवेश से विहार करता हुआ, उत्तर वाचाला की ओर अग्रसर हूं। यात्रापथ में देखा : एक ओर स्वर्णबालुका नदी बह रही है, तो दूसरी ओर रजतबालुका नदी। लगा कि जैसे मेरी ही दोनों बाहुएं बहती हुई दिगंतों तक चली गई हैं। हठात् पीछे किसी का व्याकुल पगरव सुनाई पड़ा। मैं थम गया।

'स्वामी, मैं आपका पितृमित्र वही सोमशर्मा ब्राह्मण।'

'हूं...!'

'भगवन्, आपकी कृपा से प्राप्त वह देवदूष्य वस्त्र ले जाकर मैंने एक तंतुवाय को दिखाया था। वह बोला कि यह महामूल्य वस्त्र खंडित है : श्रमण से याचना कर इसका उत्तरार्द्ध भी प्राप्त कर ला। तब इन दोनों खंडों को जोड़कर अखंड कर दूंगा। उसे बेचकर हम दोनों विपुल संपदा के भागी होंगे।...कृपा करें भगवंत, खंड को अखंड करें।'

'यहां के अशन-वसन मात्र सब खंडित हैं, ब्राह्मण! अखंड भोग पाना है तो स्वयं अखंड हो जा।'

'भगवन्, किंतु लोक में सभी थोड़े-बहुत संपन्न हैं। फिर मैं दुर्भागी ही निपट विपन्न क्यों रह गया?'

'यहां सभी विपन्न हैं, कोई संपन्न नहीं। सभी खंडित हैं, कोई अखंड नहीं। सभी भिखारी हैं, कोई स्वामी नहीं!...'

'पर मुझ-सा दीन विपन्न तो यहां कोई नहीं।'

'चरम विपन्न हुआ है, तू! परम कृपा तुझे पूर्ण संपन्न किया चाहती है।'

'मुझ दीन-हीन को, जिसे एक पूरा भोजन या वसन भी नसीब नहीं?'

'मैं तो निर्वसन हूं, ब्राह्मण! और मेरे भोजन का ठिकाना नहीं!'

'भगवन्, कृपा करें!'

'निर्वसन हो जा, ब्राह्मण, त्रिलोक के वैभव तेरा भोजन-वसन होने को तरस जाएंगे!'

'नाथ...!'

...और साष्टांग प्रणिपात में समर्पित ब्राह्मण पर दिव्य वस्त्रों की वर्षा होने लगी।

'बचाओ प्रभु, यह भार नहीं सहा जाता। ये सारे वस्त्र भी मुझे ढांक नहीं पा रहे। मेरी नग्नता का अंत नहीं।'

'एवमस्तु। वही तू है, ब्राह्मण!'

'यह मैं कौन हो गया, भंते?'

'मद्रूप हो गया, तद्रूप हो गया!'

'देवार्य का अनुसरण करता हूं, भंते!'

'अनुसरण अपना कर, मेरा नहीं।'

'भगवन्...!'

'किसी का अनुगमन न कर। अपनी ही ओर प्रतिगमन कर।'

'कहां जाऊं, स्वामी?'

'जहां तेरी आत्मा तुझे ले जाए। जहां तेरे पैर तुझे ले जाएं। सब मार्ग वहीं जाते हैं!'

'कहां पहुंचना होगा, स्वामिन्?'

'गंतव्य पर पहुंच कर, स्वयं ही जान लेगा।'

...दूर-दूर जा रहा नग्न ब्राह्मण बिंदु-शेष हो, ओझल हो गया। किसने किसे प्रतिबोध दिया, पता नहीं। मैं तो बोलता नहीं, उपदेश करता नहीं। स्वयं ही छद्मस्थ हूं, अपूर्ण हूं। पर जो अभी सुना है, उससे अपने आपमें अधिक प्रबुद्ध हुआ हूं, अधिक आलोकित हुआ हूं। ओ अकिंचन ब्राह्मण, तेरा कृतज्ञ हूं! ❖

हम बड़ी जबरदस्त अग्नि-परीक्षाओं में से होकर गुजरे हैं। हम उन्हें पार तो कर गए हैं, किंतु इसके लिए हमने बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। इन परीक्षाओं ने हमारे उत्पीड़ित मस्तिष्कों और हमारी पंगु आत्माओं पर जो छाप छोड़ी है वह बहुत समय तक नहीं मिटेगी। ये परीक्षाएं अभी समाप्त नहीं हुई हैं। स्वतंत्र और अनुशासनशील व्यक्तियों की तरह हमें इनका मजबूत हृदय और दृढ़ संकल्प के साथ सामना करना चाहिए और न सत्य मार्ग से विचलित होना चाहिए, न अपने आदर्शों और लक्ष्यों को ही भूलना चाहिए। हमें जख्म भरने का यह कार्य आरंभ करना है और रचना तथा निर्माण-कार्य करना है। भारत की घायल काया और घायल आत्मा पुकार-पुकारकर हमें अपने को इस महान कार्य में संलग्न कर देने को कह रही है। ईश्वर करे, हम इस कार्य और भारत के योग्य बनें।

—जवाहरलाल नेहरू

रघुवीरसहाय की कविताएं

शक्ति दो

शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली-की-सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक
पहुंचा आएं
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा—
शक्ति दो।

और यह नहीं दो तो यही कहो,
अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयों के लिए यही कहो—
कैसे तुमने अपनी पीढ़ी में किया होगा क्या उपाय?
कैसे सहा होगा, पिता, कैसे तुम बचे होगे?
तुमसे मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दाय
उसे क्या करें?
तुमने जो दी है अनाहत जिजीविषा
उसे क्या करें?
कहो, अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयों के लिए यही कहो।

•

चरण-चिह्न

भभकती रेत : नंगे पैर
या पूनो : दुकेले सैर
पैरों के लिए कुछ भी नहीं है भिन्न
चाहे आएं चाहे जाएं
पग हर एक दुख का भार उतना ही उठाता है :
समय की रेत पर मेरे (बड़ों के) पदतलों के चिह्न
चाहे अमिट भी हो जाएं
यानी हवा पानी या किलकती बालिकाओं
का सुघर खिलवाड़
टस से मस न उन को कर सके
तो भी चरण के चिह्न अपनी दाब की
गहराइयों में
क्या कहीं यह भी लिखा-सा छोड़ जाएंगे
कि ऐसे रेत में चलना थकाता है?

•

आभार

मानता हूं बंधु यह आभार

तुम न होते तो न शायद जान पाता
इस व्यथा से भी कठिन है व्यथा से उद्धार,
मानता हूं बंधु यह आभार।

और तुम हो, इसलिए अब (यह नहीं कि कहीं जरा
घट-वट गया है वेदना का भार)
इसलिए अब, जानता हूं
यह कि अपनी व्यथा को तो तुष्टि देना सरल है
मन मांगता है, प्रिय, तुम्हारी व्यथा का प्रतिकार।

•

प्रतीक्षा

दूसरे तीसरे जब इधर से निकलता हूं
देखता हूं, अरे इस वर्ष गुलमोहर में अभी तक फूल नहीं
आया
—इसी तरह आशा करते रहना कितना अच्छा है
विश्वास रहता है कि वह प्रज्वलित रूप
मैं भूल नहीं आया।

•

बौर

नीम में बौर आया

इसकी एक सहज गंध होती है
मन को खोल देती है गंध वह
जब मति मंद होती है

प्राणों ने एक और सुख का परिचय पाया। ❖❖

शीलन

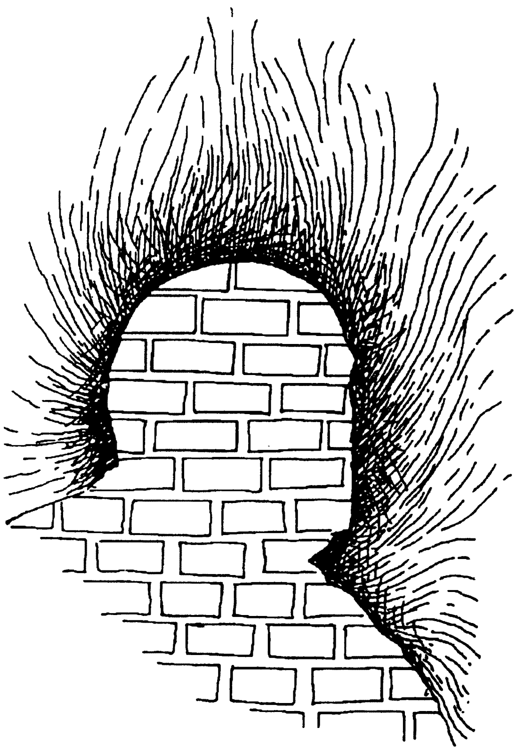

हमारे अभिजन और शक्तिशाली-जनों द्वारा पश्चिम का विमूढ़ अनुकरण एक पीड़ाप्रद दुर्घटना है। अविवेक और विमूढ़ता की यह स्थिति समाप्त करनी होगी तथा अपने भविष्य के लक्ष्य व दिशा के बारे में राष्ट्रीय बुद्धि से निर्णय लेना होगा। अनिर्णय, अज्ञान और आत्मविरोध की स्थिति किसी भी स्वाधीन समाज को शोभा नहीं देती और इस स्थिति में स्वाधीनता अधिक दिन टिक भी नहीं पाया करती।

अतः यह भटकाव त्यागना होगा। प्रमाद एवं अविवेक को विदाई देनी होगी। आंतरिक हीनता दूर करनी होगी। अपने इतिहास का, अपनी परंपरा का स्मरण करना होगा, बोध प्राप्त करना होगा तथा आत्मबल एवं इच्छा को जगाना होगा। वही सार्वभौम और सनातन उत्कर्ष-पथ है, संस्कृति-पथ है, ऋजु-पथ है। उसी पथ को अपनाना होगा।

—धर्मपाल

न्याय की रक्षा और अन्याय के प्रतिरोध के लिए निरंतर संघर्ष, सब-कुछ सहकर भी अपना मस्तक ऊंचा रखने का संकल्प, निष्ठा और अनन्यता की अग्नि-परीक्षा में खरा निकलकर भी अयाची और अदीन बने रहने का कठोर आत्मबल, अपने को अर्पित करके भी अर्पित रूप में अपना अस्तित्व अमिट रखने का यत्न और आकाश देवता की आराधना करते हुए भी धरती के प्रति ममत्व—यही तो पार्थिव धर्म है।

पार्थिव धर्म

□ विद्यानिवास मिश्र □

कई बार मैंने इस पर विचार किया है कि पृथ्वी का धर्म वस्तुतः क्या है, पृथ्वी की वह कौन-सी नैसर्गिक और सतत प्रक्रिया है, जो उसे पृथ्वी का अभिधान, पृथ्वी का आकर्षण दिए हुए है? उसका कौन-सा गुण है जो उसकी नानाभाषी, नानाधर्मी संतानों को स्नेहाबद्ध किए हुए है? मैं शास्त्रों के पास गया। न्यायशास्त्र ने बतलाया—पृथ्वी का धर्म गंध है, मिट्टी की पहचान उसकी सुरभि है। ज्योतिष ने कहा—पृथ्वी का गुण उसकी परिक्रमा है। परिक्रमा, जो वह अपनी करती है और फिर सूर्य की करती है, तथा परिक्रमा, जो उसकी की जाती है चंद्र द्वारा; विराट पुरुष की आंख के इशारे पर नाचने वाली पृथ्वी के पीछे विराट पुरुष का मन चक्कर काटा करता है। इतिहास ने अपनी सम्मति दी—पृथ्वी का धर्म है क्षमा, जिससे उपमा बनी है 'क्षमया पृथिवीसमः', और इसी एक धर्म के कारण अनेक उलट-फेर, आंधी-पानी, प्लव-विप्लव और सुख-दुख झेलकर भी वह धरा बनी हुई है। पुराणों ने अपनी पुरानी कहानी दुहराई— पृथ्वी गौ है, दूध देना उसका धर्म है, जब उसने दूध देना किसी समय बंद कर दिया तो पृथु ने हिमालय को वत्स बनाकर उसे दुहा था और उसी दिन से वह पृथ्वी कहलाई। साहित्य ने संकेत दिया कि पृथ्वी का धर्म है लोगों को जोड़ना, वह इसीलिए प्रत्येक परिणय-वेला में वेदी बनकर उभरती है, जिसकी साक्षी के बिना दो प्राणी नहीं मिल पाते, वह प्रत्येक युग-संध्या में बलिवेदी बनकर जगती है, जिसमें पिछले युग द्वारा दी गई आहुति अगले युग की विभूति बनकर वितरित होती है।

जनश्रुतियों ने सबसे पीछे कानों में चुपके-से कहा कि पृथ्वी का धर्म है मही बनना, धरित्री बनना, अवनी बनना, जगद्धात्री बनना। वही करवट बदलने से लेकर चलने की प्रेरणा देती है, वही बिना दूसरों को दुख पहुंचाए फैलने की शिक्षा देती है और वही बिना पक्षपात किए त्रस्तों को अभय देती है; उसी ने ऋषियों के शोणित की बूंद-बूंद से घड़ा भरा, उस घड़े में राजर्षि जनक के हल की नोक लगी, वह घड़ा ही सीता बना और धरा की धरोहर सीता ने अपने उज्ज्वल चरित्र से जनक और दशरथ के कुल तो तारे ही, नारी जाति-मात्र को महनीय बना दिया। सीता का तप आग से प्रखर और गंगा की धारा से तीक्ष्ण निकला, जिसे सुर-असुर-नर संभाल न सके। अंत में धरती ने अपने में ही उस तपःप्रतिमा को लीन कर लिया, धरती की बेटी धरती के हृदय से निकली, धरती के हृदय में समा गई। सीता का पृथ्वी-प्रवेश नारी के सात्त्विक दर्प, ओज और तेज के प्रस्फुटन की घटना थी; उससे पृथ्वी का गौरव और बढ़ गया। आज भी पृथ्वी की रागिनी का अमर्ष अभी नहीं मिटा, पृथ्वी के विश्वास को जो आघात लगा, वह अभी नहीं भरा। अवध और तिरहुत के गांवों में अगहन में लड़की की शादी करनी वर्जित हो गई; जाने क्या हो जाए, सीता का विवाह अगहन में हुआ था, सीता के ऊपर ऐसी दारुण विपत्ति पड़ी कि—

'सीता लकड़ी के कइली अंजोर संतति मुख देखेली!'

लकड़ियों की आग तेज करके सीता को रोशनी करनी पड़ी और तब उन्होंने पुत्र का मुख देखा! यह दुख बिसराया नहीं जा सकता। पुत्रजन्म के उत्सव के समय भी जनपदवधू सीता की सुधि किए बिना नहीं रहती—

'छापक पेड़ छिउलिया तौ पतवन झपसल
ए हो ओहि तरे ठाढ़ी सितल देई मनहीं बिसोह करै हो।
के मोर दुइ खर तुरिहै त मड़ई बनइहै
ए हो के मोर दियना जरइहै त विपति गंवाइब हो।'

पत्तों से झपसा हुआ पलाश का पेड़ है, पुत्र-प्रसव का समय ज्यों-ज्यों निकट आता है, सीता त्यों-त्यों और चिंताकुल होती है—कौन मेरे लिए दो खर तोड़कर कुटी बनाएगा, कौन मेरे लिए दीप जलाएगा, कौन प्रसूति गृह की रखवाली करेगा, कौन मेरे पास बैठेगा, जिससे मेरा कष्ट हलका होगा!

पर वह सीता फिर राम के पास जाती नहीं, वशिष्ठ मनाते हैं तो उत्तर देती है—

'अगिया में राम मोहि डरलै लाइ भूंजि कढ़लें

गुरु गरुहे गरभसे निकरलें त कइसे चित्त मिलिहै।'

और अंत में राम मनाने आए, पर उन्हें केवल एकटक देखकर बिना कुछ बोले सीता धरती में समा गई।

'मुझे लगा पृथ्वी का धर्म यही तो है : न्याय की रक्षा और अन्याय के प्रतिरोध के लिए निरंतर संघर्ष, सब-कुछ सहकर भी अपना मस्तक ऊंचा रखने का संकल्प, निष्ठा और अनन्यता की अग्नि-परीक्षा में खरा निकलकर भी अयाची और अदीन बने रहने का कठोर आत्मबल, अपने को अर्पित करके भी अर्पित रूप में अपना अस्तित्व अमिट रखने का यत्न और आकाश देवता की आराधना करते हुए भी धरती के प्रति ममत्व—यही तो पार्थिव धर्म है।'

जब भगवान श्रीकृष्ण ने राजसूय यज्ञ में आए हुए पाहुनों के पैर पखारे और उनकी पद-धूलि अपने मस्तक पर धारण की तो उन्होंने इसी पार्थिव धर्म की वंदना की। जब उद्धव ने गोकुल से विदाई ली तो उनको लगा कि मैं इस गोकुल की धरती का अंग क्यों न हुआ—

'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।'

तब उद्धव ने भी पार्थिव पूजा के प्रति प्रणिपात किया। जब शंकर भगवान प्रयाग के पथ में कोढ़ी का रूप धारण करके बैठे और पार्वती से कहा कि जो सचमुच में भावनापूर्वक यहां तीर्थ में आया होगा, उसी की पद-धूलि से यह कोढ़ अच्छा होगा, तो उन्होंने भी पार्थिव रज की महिमा प्रमाणित की। जब भागवतकार ने धर्म की अंतिम आकांक्षा थहाई तो उन्हें लगा—

'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्'

दुखी की पीड़ा हरने से बढ़कर कोई कामना नहीं हो सकती, तब उन्होंने भी पार्थिव आकांक्षा की उत्कृष्टता ही सिद्ध की। जब सिद्धार्थ ने शिकारी के बाण से बिंधे हुए हंस की रक्षा करके उस पर अपना स्वत्व स्थापित किया तो उन्होंने भी पार्थिव न्याय की प्रतिष्ठापना की। जब शंकराचार्य को संन्यास लेने पर भी अपने पार्थिव शरीर की जननी के शरीर को पार्थिवसात् करने के लिए लकड़ी जुटानी पड़ी तो उन्हें भी पार्थिव कर्तव्य की अवशता स्वीकारनी पड़ी। जब कालिदास ने वियोगशृंगार की अप्रतिम रचना 'मेघदूत' को अपने हाथ में लिया तो ताजे जुते खेत में से पहला डोंगरा पड़ने पर निकलने वाली सोंधी सुगंध ने उन्हें बांध लिया और वे विरह का संदेश भूलकर पृथ्वी का सौंदर्य बखानने लगे. नदियां, पर्वत, वन, प्रदेश, पग-पग पर उनके संदेश और संदेशहर को बिलमाने लगे; तब उन्होंने भी पार्थिव सौंदर्य के दुर्निवार वेग में प्रवाहित होने में ही काव्य की सार्थकता मानी। जब ज्ञान की वारि ने सेवा का व्रत लिया, जब ब्रह्मा के कमंडलु से निकली हुई जल-राशि ने विष्णु का पद-प्रक्षालन किया. तभी वह तप की और सुकृत की परम पावन जलधारा बनीं और विरजा होने ही के कारण वे जनतारिणी बनीं; और तब गंगा ने पार्थिव परंपरा का ही आकार ग्रहण किया।

भगवान शंकर की अष्टमूर्ति में इसीलिए कदाचित् पृथ्वी को मूर्धन्य स्थान दिया गया। पार्थिवेश्वर के रूप में ही उनकी सर्वसुलभ प्रतिष्ठा हो सकती है और पार्थिव शिव ही पारमार्थिक शिव हैं, क्योंकि उसी रूप में वे जन-जन की हथेली में आते हैं। पार्थिव कल्याण परमार्थ का पहला सोपान है, पार्थिव साधना मनुष्य के ईश्वर होने की पहली शर्त है। इसीलिए कहा गया है कि—

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।'

पृथ्वी के सुनहले फूल उसी के हाथ लगते हैं जो या तो सूरमा हो, जीवन के संघर्ष में अविरत लगा हुआ हो, या जो विद्याओं में पारंगत हो अर्थात् जिसने जगत को उसकी समग्रता में देखा हो, या जो सेवा का व्रती हो अर्थात् जिसने पार्थिव शिव की साधना की हो। पृथ्वी पर जन्म लेकर जिसको उसके सुनहले फूलों का सौरभ नहीं मिला, उसका जन्म व्यर्थ है; जिसने अपने साधन-धाम को आकाश की ओर निहारते रहने में ही खपा डाला, जिसने वायु की साधना में ही अपनी सांस की सांसत की, जिसने पंचाग्नि-तप को ही परम पुरुषार्थ माना और जिसने जल-समाधि को ही सबसे बड़ी समाधि मानी, वह पार्थिव कीर्ति के सौरभ से वंचित ही रहा। योगी-यती जाने कितने हुए और उनके नाम भी धूलि में मिल गए, पर जिसने अपने योग को पार्थिव साधना से जोड़ा, जिसने अपनी समाधि पार्थिव सौंदर्य में समाहित की, जिसने अपना

तप पार्थिव ताप को आत्मसात् करने में विनियोजित किया, जिसने अपने जीवन-रस में पार्थिव कुसुमों का रस घोला, जिसने अपने शब्द में पार्थिव रागिनी का स्पंदन दिया, उसी को पृथ्वी ने यश दिया, उसी को पृथ्वी ने अमृतत्व दिया, उसी को पृथ्वी ने अपना वात्सल्य दिया और उसी को पृथ्वी ने अपने ही नहीं, साथी-संघाती दूसरे महाभूतों के भी बंधन से मोक्ष दिया।

शायद पार्थिव धर्म की चरम चरितार्थता इसीलिए साहित्य-रचना में है कि साहित्यकार अपनी दृष्टि खुली रखकर भी अपने मन को पृथ्वी के सुख-दुख में बांधे रहता है, इस बंधन में ही वह अपनी और अपने सहृदय पाठक की निवृत्ति पाने की कोशिश करता रहता है, उसे दूसरी सिद्धि कभी विचलित नहीं करती, उसने सिद्धि-शिलाओं को गंगा की धारा में सदा विसर्जित किया है और अपनी पृथ्वी को 'उदार रमणीया' मानकर ही देवी-देवताओं को पार्थिव आकार दिए हैं। कम-से-कम भारतीय साहित्य की परंपरा कभी अपार्थिव नहीं रही, इसीलिए 'लोक-साहित्य और लोकोत्तर-साहित्य, यह द्वैत हमारे लिए तब तक अपरिचित रहा, जब तक हमने अपनी आंखों में पश्चिम के उपलोचन नहीं लगाए और तब हमने लोक-साहित्य की एक पृथक् कोटि बड़ी अनुकंपावश स्वीकार की। यह सोचने-समझने की कोशिश नहीं की कि जो लोक में ओतप्रोत न हो उसकी कोई सार्थकता और किसी के लिए चाहे कितनी हो, साहित्यकार के लिए—पार्थिव साधक के लिए—नगण्य है। कल्पना को अबाबील के पंख या हारिल का हठ देने का अभ्यास जिन्हें हो उन्हें हो, हमारे मानस का हंस पृथ्वी के पंक में उपजे कमल के डंठल का पाथेय लिए बिना कभी उड़ना नहीं चाहता। हमने इसीलिए पृथ्वी, वाणी और मनुष्य की इंद्रिय-वृत्ति, तीनों को एक ही संज्ञा दी है—'गौ' : गतिशीलता, परार्थता और ऋजुता का समाहार। इसीलिए हम माता के उपासक हैं। हमने पृथ्वी को इसीलिए अपनी धात्री स्वीकार किया है, जिसके ऋण से हम कभी मुक्त होने की चाहना नहीं करते। हमारे पार्थिव धर्म का परिमाप हमारी तितिक्षा उतनी नहीं है जितनी हमारी उदारता ग्रहण करने में और सर्वतोभावेन प्रदान करने में। हम महत्ता को इसीलिए दान की मात्रा से नहीं, दान-भावना की शुद्धता और निःशेषता से नापते आए हैं। इसीलिए शायद हमने अपने देश की पृथ्वी को कर्मभूमि की संज्ञा दी है, उसको भोग-भूमि का अधिकार हमने जान-बूझकर नहीं दिया है, जिससे हम ईश्वर में न बंधे बल्कि ईश्वर हमारे स्नेह में बंधे। यही हमारा गौरव है और यही हमारी सबसे बड़ी आशा है। ❖

यदि हम नाना प्रकार के व्यंजन लेकर ऐसे लोगों के बीच भोजन करने बैठ जाएं, जिन्हें खाने को कुछ नहीं मिला है और जिन्हें केवल सूखी रोटी मयस्सर होती है, तो—हम चाहे कितने ही कठोर-हृदय क्यों न हों—यह संभव नहीं कि हम स्वयं तो खा लें और भूखे लोग होंठ चाटते रह जाएं। अतः भूखों के बीच रहते हुए स्वादिष्ट भोजन करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने-आपको उनसे छिपा लें और ऐसी जगह भोजन करें जहां वे हमें देख न सकें। सच पूछिए तो ऐसा ही हम करते भी हैं।

सामाजिक जीवन पर कुछ अधिक सरल ढंग से विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि निर्धनों के संपर्क में आने में हमें जो कठिनाई दिखाई देती है वह केवल संयोग की बात नहीं है, बल्कि हम जान-बूझकर अपने जीवन की व्यवस्था इस प्रकार कर लेते हैं कि उससे निर्धनों के संपर्क में आना कठिन हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि जब मैंने निष्पक्ष भाव से अमीरों के जीवन पर विचार किया तो देखा कि हमारे जीवन में जो सुख समझा जाता है वह वास्तव में वह वस्तु है—या कम-से-कम उसका उस वस्तु से अटूट संबंध है—जो हमें कंगालों से यथासंभव अधिक-से-अधिक अलग रखती है। सच पूछिए तो हमारे वैभवपूर्ण जीवन के समस्त प्रयत्नों—हमारे भोजन, कपड़े, मकान, सफाई और शिक्षा तक—का मुख्य उद्देश्य हमें गरीबों से अलग रखना है। इस प्रकार अपने और निर्धनों के बीच अलंघ्य दीवारें खड़ी करने में हम अपनी संपत्ति का दस में से कम-से-कम नवां भाग अवश्य उड़ा डालते हैं। धनवान बनने पर हम जो पहला काम करते हैं वह है दूसरों के साथ एक ही बर्तन में भोजन करना बंद कर देना।

—लियो टॉल्सटॉय

अशांति का बीज है—कषाय। जब व्यक्ति आवेश के क्षणों में होता है, तब न मन पर नियंत्रण होता है और न वाणी पर। विवेक-चेतना पर एक धुंधला आवरण छा जाता है। सम्यक् सोच के द्वार बंद हो जाते हैं। अपनी अंतःज्वाला व्यक्ति को जलाती रहती है।

सफलता का सूत्र—शम और श्रम

□ साध्वी विमलप्रज्ञा □

वसुधैव कुटुंबकम् भारतीय संस्कृति का आधार तत्त्व है। यही आदर्श भारतीय संस्कृति की आत्मा है और प्राण भी। समानता की इसी धरती पर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' स्वर मुखर हुआ। इसी धरती पर महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और प्राणीमात्र का अस्तित्व जगमगा उठा। इसी धरती पर यह मान्यता बलवती हुई कि अस्तित्व की दृष्टि से सब जीव समान हैं, उनमें कोई भेद नहीं, सबको सुख-दुख का संवेदन होता है। समानता का यही सिद्धांत समण संस्कृति का आधार बना। समानता की धरती पर कोई भी प्राणी हीन या महान नहीं होता। सबमें विकास करने की क्षमता है। समानता की इसी उद्घोषणा में पूरी मानव जाति को एकत्व में बांधने की क्षमता हो सकती है। जहां सारी मानवजाति एक होती है वहां जातिवाद, प्रांतवाद को लेकर उठने वाले स्वर धीरे-धीरे स्वतः मौन हो जाते हैं। अहिंसा और मैत्री जिस समाज की जीवनशैली बनती है वही समाज स्वस्थ समाज बन सकता है। वही परिवार आदर्श परिवार बन सकता है जिसकी जीवनशैली में अहिंसा और मैत्री का वास होता है। फिर चाहे उस परिवार के सदस्य डॉक्टर हों या इंजीनियर, वकील हों या उद्योगपति—वहां ये भेद गौण हो जाते हैं। परिवार में वे सब एक समान सदस्य हैं। इस जीवनशैली में जीने वाला व्यक्ति दूसरों के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित नहीं कर सकता और न ही दूसरों का शोषण कर सकता है।

समानता का व्यवहार जिस जीवनशैली का अंग बनता है उसकी निष्पत्तियां भी स्पष्ट परिलक्षित हो सकती हैं। जहां ऐसी स्थितियां होती हैं वहां—

- मानवीय एकता की भावना के विकास से न जातिवाद का झगड़ा होगा, न प्रांतवाद की समस्या होगी।
- पारिवारिक जीवन में पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं होगा।
- सबकी योग्यताओं का अंकन होगा, पर सब एक-दूसरे के पूरक होंगे।
- सबको विकास के समान अवसर उपलब्ध होंगे।

शम : समण संस्कृति का आधार-सूत्र

सुख और शांति मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति हैं। उसके सारे प्रयत्नों का उद्देश्य भी शांति की खोज ही है। समण संस्कृति का प्रबल आधार-सूत्र शम, शांति और कषायों का उपशमन है।

अशांति का बीज है—कषाय। जब व्यक्ति आवेश के क्षणों में होता है, तब न मन पर नियंत्रण होता है और न वाणी पर। विवेक-चेतना पर एक धुंधला आवरण छा जाता है। सम्यक् सोच के द्वार बंद हो जाते हैं। अपनी अंतःज्वाला व्यक्ति को जलाती रहती है। जिस मानस में निरंतर आवेश की ज्वाला जलती रहती है वह न स्वयं शांति से जी सकता है, न आसपास के परिकर को शांति से जीने में सहयोगी बन सकता है। आवेश के कारण सामाजिक और पारिवारिक खाइयां गहरी होती चली जाती हैं। 15 मिनट के आवेश में व्यक्ति उतनी शक्ति क्षीण कर देता है जितनी शक्ति 9 घंटे के कड़े परिश्रम से होती है। आवेश में व्यक्ति का रक्त विष के रूप में बदल सकता है। जैसे रुई के ढेर के लिए एक चिनगारी पर्याप्त है वैसे ही सद्गुणों को नष्ट करने के लिए आवेश की एक चिनगारी पर्याप्त है। एक व्यक्ति का आवेश अनेक व्यक्तियों के आवेश को जगा सकता है। आतंकवाद की लंबी कतार इसी का परिणाम कही जा सकती है।

यदि सुख और शांति का जीवन जीना चाहते हैं, जीवन के वास्तविक आनंद को हासिल करना चाहते हैं तो शम यानी उपशांति को अपनी जीवनशैली का अंग बनाने में प्रयासरत

रहना चाहिए। इसका प्रारंभ निम्नानुसार किया जा सकता है—

- अपनी उन भूलों को याद करें, जो आज भी दूसरों के दिलों पर गहरे जख्म के रूप में विद्यमान हैं। उन भावों की मरहम है क्षमा। वही उन्हें भर सकती है।
- क्षमा से ही संबंधों की मधुरता प्राप्त हो सकती है। टूटते परिवारों और बिखरते जीवनमूल्यों की सुरक्षा क्षमा से ही की जा सकती है।
- कषाय की उपशांति में से ही अभूतपूर्व सुख का उदय हो सकता है। तनावमुक्त जीवन जी सकते हैं।

जो सहन करना जानता है वही विकास के नए द्वार खोल सकता है। उपशम प्रधान जीवनशैली से ही समाज और परिवार स्वस्थ रह सकता है।

समण संस्कृति का प्रबल सूत्र : श्रम

महावीर ने कहा—अपने वीर्य का गोपन मत करो। अपनी शक्ति का उपयोग करो। पुरुषार्थ करने वाला व्यक्ति ही अपनी मंजिल तक पहुंच सकता है। इसलिए समण संस्कृति का प्रबल आधार-सूत्र बना—श्रम। निरंतर पुरुषार्थ करते रहने का अर्थ है—प्रवहमान जल की भांति प्रतिक्षण पवित्र बने रहना। पुरुषार्थहीनता तो गड्ढे में भरे हुए जल की तरह सड़ांध पैदा करती है।

पूर्ण निष्ठा और मनोयोग से कार्य करने वाला व्यक्ति अपनी कार्य कुशलता से लिपिक से महाप्रबंधक तक, सेना के जवान से कर्नल तक, प्राइमरी पाठशाला के अध्यापक से कुलपति तक, अज्ञ से महाप्रज्ञ तक पहुंच सकता है।

जहां श्रम की चेतना नहीं होती वहां जीवन के छोटे-छोटे कार्य भी उत्तेजना जगा देते हैं। प्रमाद और आलस्य कषाय उत्पत्ति के लिए उर्वरा भूमि हैं। पारिवारिक विघटन का भी एक कारण यही है।

जहां बालक से लेकर युवा और वृद्ध सभी जन अपनी क्षमतानुसार श्रमशील होते हैं, वहां गरीबी की गिरफ्त से सदा-सदा मुक्त रहा जा सकता है। यह माना गया है कि श्रम ही ईश्वर की उपासना है। श्रम ही सफलता की प्रथम सीढ़ी है। नीतिशास्त्र में ग्यारह प्रकार के चोरों का वर्णन है—उनमें सबसे पहले उस व्यक्ति की गणना की गई है जो बिना श्रम किए खाता है।

लहलहाती हुई अनाज की बालियों में अपने श्रमसीकरों को देखकर किसान आनंद-विभोर हो उठता है। प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होने वाला विद्यार्थी अपने श्रम की सफलता पर झूम उठता है। निर्धनता की प्रथम पंक्ति में खड़ा व्यक्ति अपने श्रम से अमीरी के शिखर तक पहुंच सकता है।

यह सदैव मानना चाहिए कि सफलता किसी पेड़ की डाली पर लगा हुआ फल नहीं है जिसे सुविधानुसार तोड़ लिया जाए। सतत पुरुषार्थ में ही सफलता निहित है। हम कल क्या होंगे, यह इस बात पर निर्भर है कि हम आज क्या हैं। कल हमने क्या किया था। अतः निरंतर आत्मालोचन और विवेकशीलता से होने वाला श्रम कभी निष्फल नहीं जाता।

यदि जीवन का वास्तविक सुख हासिल करना चाहते हैं, जीवन को स्वस्थ रखना चाहते हैं तो श्रमशीलता को अपनी जीवनशैली का अंग बनाना चाहिए। जिन कार्यों में असफल होते हैं उनके लिए भी निराश नहीं होना चाहिए और न ही अपनी विफलता के लिए दूसरों पर दोषारोपण करना चाहिए। अपितु दुगुने उत्साह के साथ पुनः अपने कार्य में जुट जाना चाहिए। अंधकार को हजार बार कोसने की अपेक्षा एक मोमबत्ती जला दें—यह प्रयत्न होना चाहिए। श्रम से ही शारीरिक और मानसिक स्वस्थता को हासिल कर सकते हैं। श्रम से ही परिवार और समाज को आनंद से भर सकते हैं।

महावीर ने कहा—शक्ति का प्रस्फोटन करने वाला ही मोक्ष का द्वार खोल सकता है। ❖

धर्म, राजनीति, व्यापार और प्रचार—सभी मिलकर उस कीचड़ को संजोकर रखने की साजिश कर रहे हैं जिसे संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। यथास्थिति की यह साजिश अपने-आप में इतनी शक्तिशाली है कि उससे बदनामी और मौत होगी।

—राममनोहर लोहिया

सबके प्रति समभाव की साधना समण का नैसर्गिक स्वभाव है। सब जीवों में सम मन वाला होने के कारण वह समन (समना) कहलाता है। 'उवसम सारं सामण्णं!' श्रामण्य का सार उपशम है। सदा उपशांत रहना समण धर्म का आधार है। समण का एक अर्थ सु-मन यानी श्रेष्ठ मन वाला भी होता है। वह भाव से पाप-मन वाला नहीं होता, स्वजन और अन्य जन में तथा मान और अपमान में सम होता है—इसलिए वह श्रमण है। 'श्रमुच खेदतपसे' जो तपस्वी होता है वह श्रमण होता है। अर्थात् जो विविध अनुष्ठानों के माध्यम से कर्म-शरीर को तपाता है वह श्रमण है।

श्रमण कौन

□ समणी सत्यप्रज्ञा □

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति रही है और श्रमण परंपरा, ऋषि परंपरा का यहां गौरवमय स्थान रहा है। इस परंपरा के प्रति जन-सामान्य की आस्था में आज कुछ अंतर आया प्रतीत होता है। इसका कारण स्पष्ट है—वेश बढ़ा है, पर अर्हता में कमी आई है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में हाथी का भार गधे पर लादा जा रहा है। श्रमण शब्द जिस अर्हता को लिए हुए है उसकी गरिमा का वहन यदि साधु-समाज कर पाए, तो किसी भ्रांति को पनपने का अवकाश न मिले और न आस्था को चरमराने का अवसर।

श्रमण कौन ?

'समयाए समणो होइ।' जो समभाव की साधना करता है, वही श्रमण है। जैसे मुझे दुख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को भी दुख प्रिय नहीं है—यह जानकर जो किसी प्राणी की घात नहीं करता है और न करवाता है, इस प्रकार समता में गतिशील होने वाला समण कहलाता है। सब जीवों में कोई उसका अप्रिय और प्रिय नहीं है। सबके प्रति समभाव की साधना समण का नैसर्गिक स्वभाव है। सब जीवों में सम मन वाला होने के कारण वह समन (समना) कहलाता है। 'उवसम सारं सामण्णं!' श्रामण्य का सार उपशम है। सदा उपशांत रहना समण धर्म का आधार है। समण का एक अर्थ सु-मन यानी श्रेष्ठ मन वाला भी होता है। वह भाव से पाप-मन वाला नहीं होता, स्वजन और अन्य जन में तथा मान और अपमान में सम होता है—इसलिए वह श्रमण है। 'श्रमुच खेदतपसे' जो तपस्वी होता है वह श्रमण होता है। अर्थात् जो विविध अनुष्ठानों के माध्यम से कर्म-शरीर को तपाता है वह श्रमण है।

आगम में कतिपय विशेषणों में जैन श्रमण की जीवंत प्रतिमा उत्कीर्ण की गई है। इनके माध्यम से श्रमण की श्रमणता का साक्षात्कार किया जा सकता है, जो निम्नानुसार है—

गुप्तेंद्रिय—जो अपनी इंद्रियों को सुरक्षित रखता है। गुप्त का अर्थ है—संरक्षित। चलना, बोलना आदि जीवन यात्रा की सामान्य प्रवृत्तियां हैं। इनके साथ समिति शब्द का प्रयोग होता है। वह इस बात की ओर इंगित करता है कि मुनि की ये प्रवृत्तियां सर्वसाधारण की तरह नहीं होनी चाहिए। ये गुप्तिपूर्वक होनी चाहिए। कछुआ जैसे अपनी इंद्रियों को गोपित करके रहे। दसवेआलियं में संयत को परिभाषित करते हुए कहा गया—जो श्रोत्र आदि इंद्रियों को विषयों में प्रविष्ट नहीं होने देता तथा विषय प्राप्त होने पर जो उनमें राग-द्वेष नहीं करता, उसे इंद्रियों से संयत कहते हैं।

गुप्त ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों—शील की नव बाड़ का पालन करने वाला गुप्त ब्रह्मचारी होता है। शील रक्षा के लिए नौ गुप्तियों व दसवें कोट का उल्लेख करते हुए कहा गया—

स्थान विजन हो, कामकथा वर्जन आसन का संयम हो,
आंखों का कानों का संयम, स्मृति का संयम सक्षम हो।
सरस और अतिमात्र अशन न करे न विभूषाभाव भजे,
बने न विषयासक्त व्यक्त दसविध विधान से शील सझे।

चाई—असंग-संग का त्याग करने वाला। मुनि के लिए संग, लेप या आसक्ति का त्याग करना आवश्यक है।

स्वामी कार्तिकेय के अनुसार मिष्ट भोजन, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तुएं और ममत्व के वास स्थान—उनको छोड़ना संग-त्याग है। संयम, संवर और समाधि की विशिष्ट उपलब्धि संग-त्याग से ही संभव है। श्रमण असंग होता है।

लज्जू—रज्जूवत् अवक्र व्यवहार करने वाला संयमी लज्जू कहलाता है। धर्म कहां ठहरता है? इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा गया—'सो ही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।' जो ऋजुभूत होता है, सरल होता है—उसमें धर्म निवास करता है। आचारांग भाष्य के अनुसार जिसकी प्रज्ञा सत्य होती है वह शरीर, वाणी व भाव से ऋजु तथा कथनी और करनी से समान होता है। इस प्रकार की प्रज्ञा से संचालित अन्तःकरण ही हिंसा और विषय से विरत हो सकता है। कोई भी साधक केवल बाह्याचार से हिंसा और विषय से विरत नहीं हो सकता है। इस प्रकार ऋजुता व अकरणीय कार्य में लज्जा करना मुनि के चरित्र का विशेष लक्षण है।

धन्य—गृहस्थ धन-संपदा को प्राप्त कर अपने आपको धन्य मानता है। वैसे ही मुनि आध्यात्मिक संपदा को उपलब्ध कर धन्य होता है। जो संबंधातीत जीवन जीता है, उसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, किंतु वह संपूर्ण विश्व की संपदा का सहज स्वामी बन जाता है।

अकिञ्चनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्मवित्।
योगिगम्यामिदं तथ्यं रहस्यं परमात्मनः।।

खंतिखमे—श्रमण क्षमापूर्वक सहन करने वाला होता है। क्षांति को परिभाषित करते हुए कहा गया—

सहनं सर्वकष्टानामप्रतिकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितत्वात, क्षांतिरित्यभिधीयते।।

बिना किसी प्रतिकार के, चिंता-विलापरहित अवस्था में सभी कष्टों को सहन कर लेना क्षांति है। कुछ लोग असमर्थ होने के कारण सहन करते हैं अथवा उन्हें सहन करना पड़ता है। मुनि समर्थ होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करता है, इसीलिए वह क्षांतिक्षम कहलाता है।

जितेंद्रिय—इंद्रिय-विकार से मुक्त जितेंद्रिय है। भगवती वृत्ति में गुप्तेंद्रिय व जितेंद्रिय में एक भेद-रेखा खींची गई है, जिसमें इंद्रिय-विकार का अभाव नहीं है किंतु उसका गोपन कर लेता है, वह गुप्तेंद्रिय और जिसमें इंद्रिय-विकार उत्पन्न नहीं होता, वह जितेंद्रिय है।

शोधी—आत्मा का पर से शोधन करने वाला शोधी होता है। मुनि का हृदय अकलुषित और पवित्र होता है, इसीलिए उसे शोधी कहा गया है। इसका वैकल्पिक अर्थ सुहृद हो सकता है। वह समस्त प्राणियों के साथ मैत्री का व्यवहार करता है, इसीलिए सुहृद अर्थ भी संगत है।

अनिदानी—निदान न करने वाला होने से श्रमण अनिदानी होता है। वह पौद्गलिक पदार्थों की आकांक्षा नहीं करता। जो निदानयुक्त होता है उसके चरित्र नहीं होता क्योंकि निदान के साथ हिंसा की अनुमोदना जुड़ी हुई है।

अल्पौत्सुक्य—श्रमण अल्प उत्सुकता वाला अनुत्सुक होता है। मुनि आत्मा में रमण करता है, इसीलिए पदार्थ के प्रति उसके मन में औत्सुक्य नहीं होता। वस्तु के प्रति व्याकुलता या उत्कंठा से वह मुक्त होता है। यह स्थिति सुख की स्पृहा का निवारण करने पर प्राप्त होती है।

अबहिर्लेश्य—संयम से अबहिर्भूत चित्तवृत्ति वाला अबहिर्लेश्य कहलाता है। मुनि की भावधारा, संयम में अंतर्लीन रहती है, इसलिए वह अबहिर्लेश्य है। अबहिर्लेश्य बनने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'रहें भीतर जीएं बाहर' का संबोध देते हैं।

सुश्रामण्यरत—श्रमण सम, शम, श्रम की साधना करता है। सम-समानता की अनुभूति, शम-शांति, श्रम-क्लम-तपस्या में रत होता है। इनसे उसका श्रामण्य अतिशायी बनता है। इसलिए उसे सुश्रामण्यरत कहा जाता है।

निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुसार चलने वाला—निर्ग्रंथ प्रवचन में श्रद्धा, प्रतीति, रुचि होना—पूर्ण समर्पण की अभिव्यंजना है। निर्ग्रंथ प्रवचन को निरंतर आगे रखकर चलना हार्दिक श्रद्धा का प्रतिफलन है।

मुनि, साधु, भिक्षु आदि शब्द भी श्रमण के लिए प्रयुक्त होते हैं।

'नाणेण य मुणी होइ'—जो ज्ञान की आराधना करता है वह मुनि होता है। संवेग, निर्वेद, विषय-त्याग, सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान-दर्शन, चारित्र, विनय, क्षांति, मार्दव, आर्जव, विमुक्तता, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक शुद्धि—ये भिक्षु की पहचान हैं।

श्रमण के लिए प्रयुक्त ये विविध विशेषण साधक के जीवन चित्र को विविध आयामों से प्रस्तुत करते हैं। 'पणया वीरे महावीहिं'—त्याग के महान पथ पर महान व्यक्ति ही बढ़ सकता है। ❖

घोड़े ने कहा—'अब मुझसे नहीं चला जाता। मैं आगे नहीं जा सकता। बस अब उतरो, मियां छिद्दू!' छिद्दू ने कहा—'वाह, मैं तो और आगे चलूंगा, और आगे, और आगे।' घोड़े ने कहा—'उतरते हो तो उतरो, नहीं तो...' इतना कहना था कि छिद्दू ने जोर से चाबुक मारा और कहा—'नहीं तो... ?' घोड़ा इस जोर से उछला और ऐसी दुलत्ती मारी कि मियां छिद्दू धड़ाम से आगे आन पड़े और रेत की दीवार पर से ऐसा लुढ़के कि सीधे समंदर में जा पहुंचे।

बालकथा

छिद्दू की मैं-मैं

◻ डॉ. जाकिर हुसैन ◻

एक छोटा-सा लड़का था। उसका नाम था छिद्दू। इस लड़के की आदत यह थी कि वह जब भी किसी को कोई काम करते देखता तो झट कहता—'मैं भी यही करूंगा, मैं भी।' बस, दिन-भर यही 'मैं भी, मैं भी' करता रहता था। कभी खिड़की में से देखता कि सड़क पर कोई घोड़े पर सवार जा रहा है तो कहता—'मैं भी सवार हूंगा।' बाग में खेलने जाता और झाड़ी में से कोई चिड़िया फुर्र से उड़ती, तो कहता—'मैं भी उडूंगा।' उसके घर से कुछ दूर एक तालाब था। उसके किनारे वह खेलने जाया करता और नन्ही-नन्ही मछलियों को पानी में तैरते देखता तो कहता—'मैं भी तैरूंगा।'

एक दिन ऐसा हुआ कि उसके मां-बाप कहीं बाहर गए और बहन किसी काम से खेत पर गई थी। वह घर में बिल्कुल अकेला था। एक कोने में उसके बाप का चाबुक रखा था, जिसे उसने उठा लिया और दरवाजे पर जाकर सड़ासड़ एक पत्थर पर चलाना शुरू किया और कहना शुरू किया—'चल-चल, नहीं तो मारते-मारते मार डालूंगा।' मालूम नहीं क्या बात हुई कि थोड़ी देर में एक दूध-सा सफेद घोड़ा उसके सामने आकर खड़ा हो गया। शायद यह बात हुई कि पत्थर ने दुआ की हो—'यह लड़का मुझे बेकार मारता है। मैं कैसे चलूं? चल सकता तो इसे कहीं ले जाता।' पत्थर की दुआ सुन ली गई और छिद्दू के लिए एक घोड़ा भेज दिया गया। घोड़े पर एक सुनहरा खूबसूरत जीन भी कसा हुआ था। घोड़ा कुछ देर तो गर्दन झुकाए खड़ा रहा, फिर अपने दोनों अगले पांव मोड़कर घुटनों के बल झुक गया और छिद्दू से कहा—'आओ, बैठ जाओ।' फिर क्या पूछना था! छिद्दू तो मारे खुशी के फूला न समाता था। झट कूदकर सुनहरे जीन पर बैठ गया और लगा चिल्लाने—'ओ हो, हो हो। मैं तो घोड़े पर सवार हो गया। मैं तो घोड़े पर सवार हो गया।'

बाहर ही खेत की मेड़ पर छिद्दू की बहन मुन्नी बैठी थी। उसने भाई को घोड़े पर सवार हुआ देखा तो चिल्ला उठी—'अरे छिद्दू, छिद्दू, किधर चला घोड़े पर?' छिद्दू बोला—'हम तो दुनिया देखने जाते हैं। आ तू भी आती है तो आ। देख यह है। पीछे बैठ जाना। आती है?' मुन्नी ने कहा—'नहीं भैया, मैं तो अब्बा-अम्मां के पास ही रहूंगी।' 'अच्छा तो तेरी खुशी। मैं तो जाता हूं।' छिद्दू ने जवाब दिया और जोर से घोड़े के एक चाबुक रसीद किया और घोड़ा ऐसा उड़ा कि जैसे हवा जाती है।

पहले तो एक बड़ा-सा मैदान पड़ा। उस पर घोड़ा सरपट दौड़ता हुआ निकल गया। फिर एक बहुत ऊंचे पहाड़ पर चढ़ा और दूसरी तरफ से उतरकर एक घने जंगल में पहुंचा। जंगल खत्म हुआ तो हरे-हरे खेत आए। हर तरफ खेती लहलहा रही थी एवं लाल और

नीले फूल खिले हुए थे। खेतों से निकले तो फिर एक जंगल आया। लेकिन अजीब तरह का जंगल था। इसके पेड़ सब बहुत छोटे-छोटे थे और ऐसे घने कि इनमें से गुजरना मुश्किल था। मगर इस घोड़े के सामने सब-कुछ आसान था। उसे भी तै कर लिया। फिर एक रेत की दीवार आई। घोड़ा इस पर भी चढ़ा, मगर पांव धंस-धंस जाते थे। इसलिए तेजी जरा कम हो गई। रेत की दीवार खूब चौड़ी थी। ऊपर पहुंचे तो देखा कि नीचे समंदर लहरें मार रहा है। जहां तक नजर जाती, पानी-ही-पानी था, सब नीला-ही-नीला।

घोड़े ने कहा—'अब मुझसे नहीं चला जाता। मैं आगे नहीं जा सकता। बस, अब उतरो, मियां छिद्दू!' छिद्दू ने कहा—'वाह, मैं तो और आगे चलूंगा, और आगे, और आगे।' घोड़े ने कहा—'उतरते हो तो उतरो, नहीं तो...' इतना कहना था कि छिद्दू ने जोर से चाबुक मारा और कहा—'नहीं तो...?' घोड़ा इस जोर से उछला और ऐसी दुलत्ती मारी कि मियां छिद्दू धड़ाम से आगे आन पड़े और रेत की दीवार पर से ऐसा लुढ़के कि सीधे समंदर में जा पहुंचे।

समंदर में गिरकर वह डुबकियां खाने लगा। इतने में एक लाल सुनहरी मछली जल्दी-जल्दी तैरकर आई और उसकी टांगों के बीच में आकर ठहर गई। छिद्दू को जरा सहारा मिला तो उसने अपना बदन ऊपर को उठाया और कहा—'अहा, मैं तो फिर सवारी करूंगा।' मछली बोली—'नहीं मियां, सवारी नहीं करोगे, तैरोगे।' 'आ हा हा हा, तैरूंगा। यह तो और भी अच्छा है।'

अब उस मछली के सहारे छिद्दू मियां ने सारे समंदर में तैरना शुरू किया। चारों तरफ से नन्ही-नन्ही चमकती हुई मछलियां आ-आकर जमा होने लगीं। छिद्दू को तैरता देखकर उन्होंने खूब हंसना और नाचना शुरू किया। इधर से दरियाई चिड़ियों ने एक-दूसरे से चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू किया— 'आ रे देखो तो। जरा देखो तो। छिद्दू किस मजे से तैर रहा है।'

तैरते-तैरते जब दूर निकल गए तो एक जहाज मिला। जहाज पर छिद्दू का बाप था। चारों तरफ छिद्दू को देखता और हर एक से पूछता था—'भाई तुम्हें तो नहीं दिखाई दिया—हमारा छिद्दू!' छिद्दू ने जो बाप की आवाज सुनी तो चुपके से मछली से कहा—'अरे गोता लगा, जल्दी से गोता, नहीं तो वह देख लेंगे।'

मछली ने ऐसा गहरा गोता लिया कि समंदर की तह तक जा पहुंची। वहां तरह-तरह की सीपियां थीं, रंग-रंग के घोंघे थे और ऐसे-ऐसे दरख्त कि छिद्दू ने कभी देखे भी न थे। छिद्दू ने जो आंखें फाड़-फाड़कर देखना शुरू किया तो आंखों में पानी भर गया और लगा चीखने—'बस-बस, अब ऊपर चल, ऊपर। मेरा दम घुटता है।' मछली ऊपर निकली और छिद्दू ने पानी से सिर निकाला ही था कि एक बड़ा-सा परिंदा ऊपर से आया—कुछ काला, कुछ सफेद और छिद्दू को चोंच में उठा लिया और अपने पंख खूब फैलाकर उसे हवा में उछाला और अपनी पीठ पर बैठा लिया। छिद्दू चिल्लाया—'ओ हो हो हो। अब तो मेरे पंख हो गए। मैं तो उडूंगा, मैं तो उडूंगा।'

वह परिंदा ऊंचा उड़ता ही चला गया। रुकने का नाम ही न लेता था। उधर सूरज बराबर नीचा ही होता जाता था और आखिर को बिल्कुल गायब ही हो गया। छिद्दू के करीब से एक औरत गुजरी, जो बड़े-बड़े, निहायत ढीले, बिल्कुल काले कपड़े पहने हुए थी। यह रात थी और ऊपर से धरती की ओर जा रही थी, लेकिन परिंदा और छिद्दू थे कि ऊपर ही चले जाते थे और उड़ते-उड़ते चांद और तारों की बस्ती में पहुंच गए। नन्हे-नन्हे चमकते हुए तारों ने कहा—'मियां छिद्दू, सलाम! कहां से आते हो? अब तो बहुत देर हो गई है। तुम्हारे तो सोने का वक्त है।' मगर छिद्दू ने कहा—'मैं नहीं सोने का। मैं तो उडूंगा। ऊपर चले ही जाऊंगा, ऊपर। मैं तो आसमान के अंदर जाऊंगा और देखूंगा कि यह सूरज दूसरी तरफ से कैसे निकलता है।' सितारे खूब खिलखिलाकर हंसे। ऐसे कि आंखें बंद हो गईं और नीचे से देखने वालों को मालूम हुआ कि यह झिल-मिल, झिल-मिल कर रहे हैं। और परिंदे ने कहा—'तुम तो आसमान में जाना चाहते हो। वहां तो मैं भी नहीं जा सकता। तुम्हें ऐसे ही जाना हो तो बादलों के साथ जाओ। मैं अब आगे नहीं जाता।' 'अच्छा, तो मैं बादलों के साथ जाऊंगा। चलो, मुझे बादलों के पास पहुंचा दो। बस, चलो जल्दी। चलो, चलो।'

परिंदे ने अपना रुख मोड़ा और सीधे हाथ की तरफ से कुछ बादल आ रहे थे, उनकी तरफ चला। इसे देखकर एक काला-काला बादल भी उसकी तरफ लपका और करीब आकर छिद्दू को गोद में ले लिया। उसकी गोद बड़ी ठंडी-ठंडी थी और ऐसी नरम जैसे हलवा।

बादल छिद्दू को गोद में लेकर जो चला तो छिद्दू को ऐसा लगा कि जैसे उसके गालों पर दो बूंदें गिरीं—दो बड़ी-बड़ी गरम-गरम बूंदें।

छिद्दू कुछ उदास-सा हो गया और कहने लगा—'यह तो ऐसे मालूम होते हैं जैसे मेरी मां के आंसू हों।' बादल ने बताया—'हां बेटा! यह तेरी मां के ही आंसू हैं। वह तुझे ढूंढ़ते-ढूंढ़ते थक गई थी और एक जगह बैठी रो रही थी कि मैं पास से गुजरा तो मैं यह दो आंसू साथ लेता आया। अब उदास मत हो। इन्हें पोंछ डालो। हम, बस, आसमान पर पहुंचते ही हैं। मुंह-हाथ खूब साफ हो जाने चाहिएं। वहां फरिश्तों का पहरा है। गंदे आदमी को अंदर नहीं जाने देते।' ये बातें सुनकर छिद्दू ने रोना शुरू किया और इतना रोया, इतना रोया कि हिचकी बंध गई। वह बादल से सिसक-सिसककर कहने लगा—'नहीं, मैं अब आसमान में नहीं जाऊंगा। मैं सूरज को भी नहीं देखूंगा। मुझे अब कुछ दरकार नहीं। मुझे तो घर ले चलो। मैं अपनी अम्मां के पास जाऊंगा, बस।'

छिद्दू ने यह कहा ही था कि बादल बड़ी तेजी से नीचे को चला। सब देखते-के-देखते ही रह गए। यह जा, वह जा और एक जगह खूब नीचे पहुंचकर बादल ने छिद्दू को गोद से नीचे डाल दिया। वह धम् से एक चमेली के पेड़ के पास गिरा। उसने जो आंखें खोलीं तो देखा कि मां दोनों हाथों से चमेली की शाखें हटा रही हैं, खुशी से बांछें खिली हुई हैं और चिल्ला रही हैं—'अरे लोगो देखो, मेरा छिद्दू यह है, मेरा छिद्दू यह है।' इसी वक्त सूरज भी ऊपर से निकला और चमेली की टहनियों में से झांककर उसने छिद्दू का मुंह देखा और कुछ इस तरह मुस्कराया कि उसका सारा चौड़ा-चकला चेहरा इस मुस्कराहट से दमकने लगा। ❖

महासभा अध्यक्ष की तमिलनाडु संगठन यात्रा

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की विभिन्न प्रवृत्तियों को स्थानीय स्तर पर सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए तेरापंथी सभा की क्षेत्रीय इकाइयां महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा के नेतृत्व में महासभा प्रतिनिधियों के एक दल ने तमिलनाडु की सांगठनिक यात्रा हाल ही में संपन्न की। 12 फरवरी से 19 फरवरी तक की गई इस यात्रा में श्री डागा के साथ महासभा उपाध्यक्ष श्री मांगीलाल छाजेड़ (बंगलौर) और चैन्नई निवासी श्री बाबूलाल आच्छा व श्री इन्द्रचन्द बोहरा भी सम्मिलित हुए। इस यात्रा के दौरान तमिलनाडु के कुल 32 क्षेत्रों में यह दल गया और वहां निवास कर रहे स्थानीय-जनों से चर्चा-परिचर्चा हुई। महासभा की मुख्य प्रवृत्तियों में ज्ञानशाला, उपासक मंडल, तेरापंथ प्रचेता, सम्यक्त्व दीक्षा, कर्मणा जैन, उपासना कक्ष आदि के बारे में सभी क्षेत्रों में विस्तार से जानकारी दी गई। उपासना-कक्ष पुस्तक और उस पर आधारित दस चित्रों के एक सैट सहित जैन भारती, तेरापंथ दिग्दर्शन आदि के बारे में भी जानकारी दी गई। यात्रा के दौरान विकास परिषद और अमृत संसद की ओर से स्थानीय सभाओं के बारे में लिए गए निर्णय के अनुसार विधान के प्रारूप, महासभा के साथ स्थानीय सभाओं की संबद्धता, व्यक्तिगत सदस्यता आदि के बारे में भी विस्तार से जानकारी दी गई।

तमिलनाडु के जिन बाईस क्षेत्रों में महासभा का यह प्रतिनिधि मंडल पहुंचा—वहां सभी स्थानीय-जनों में उत्साह देखने को मिला। सुझावों के आदान-प्रदान, शिकवा-शिकायत आदि भी सामने आए। स्थानीय स्तर पर सक्रिय कार्यकर्ताओं व स्वजनों के बारे में भी जानकारी प्राप्त हुई। इस संगठन यात्रा में वन्दवासी के श्री बसंत सिंघवी, विल्लपुरम् के श्री इन्द्रचन्द सुराणा, कोयम्बटूर के श्री उत्तमचन्द बोहरा आदि का उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ। यात्रा के दौरान उपासक मंडल में प्रशिक्षण के लिए तेरह भाई-बहनों और तेरापंथ प्रचेता के लिए पांच भाई-बहनों ने अपनी स्वीकृति दी। दस चित्रों वाले उपासना एलबम के पच्चीस सैट भी मंगवाए गए। महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा 9 फरवरी को भीनासर से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व युवाचार्यश्री महाश्रमणजी से मंगल आशीर्वाद लेकर इस यात्रा के लिए निकले थे। 10 फरवरी को वे चैन्नई पहुंचे और 12 फरवरी को चैन्नई से यात्रा प्रारंभ हुई। जिन 32 क्षेत्रों में यह प्रतिनिधि मंडल पहुंचा, वे स्थान हैं—चेगलपेठ, तिरुकल्लीकुन्डम, मानामदी, वन्दवासी, तिन्डीवनम, तिरुवन्नामलाइ, तिरुकोइलूर, विल्लीपुरम, कुड्डुलूर, सिरकाली, पोरेचर मईलआडुदूराइ, चिदम्बरम्, कुम्कोणम, त्रिच्चलापल्ली, मदुराई, शिवाकासी, कोयम्बटूर, तिरपुर, इरोड़, सेलम, वानीयमबाड़ी, केवीकुप्पम, मादनूर, गुड़ियातम, वैलोर, सोलिंगर, आरकोणम, तकोलम, पेरमबाकम, नेमेली, मिन्जूर। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के जनवरी, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के जनवरी अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 मई, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम जून, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

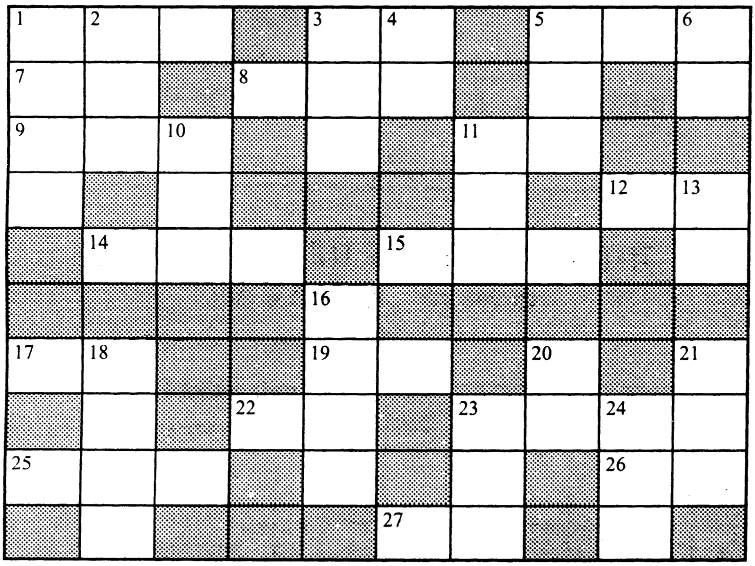

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0014

नाम प्रतियोगी.. उम्र............

पूरा पता..

....

....

बाएं से दाएं

1. ......और बहुलवाद [3]
3. जो आज्ञा से संचालित है, वह...... [2]
5. वे......धुन में बैठे थे [3]
7. ......और प्रज्ञा [2]
8. आकल्पों के कारण ऐसा......बन गया है। [3]
9. अहिंसा-प्रेम के......... [3]
11. जिसके द्वारा परमात्मा को प्राप्त करते हैं, उसे........कहते हैं। [2]
12. कसणी तो......सहै [2]
14. अमुक-अमुक संप्रदाय की ही......करनी होती है। [3]
15. ईश्वरवादियों की मोक्ष संबंधी......भिन्न ही है। [3]
17. आखिर पूंजीवादी......पर साम्यवादी [2]
19. ये चारों......स्तंभ कहलाए [2]
22. हृदय का......... गहरे से गहरा होता चला गया। [2]
23. धर्मोपासक—धर्म की ......करने वाला [4]
25. ......आधुनिकता [3]
26. भ्रष्टाचार के विरोध में शक्तिशाली समवेत...... [2]
27. व्यक्ति की प्रसन्नता को......जाने के लिए पर्याप्त होती है। [2]

ऊपर से नीचे

1. ......प्रबंधन [4]
2. ......और गुलामी एक नहीं है [3]
3. पर्यावरणीय......भी आधुनिकता के इसी दौर में आए [3]
4. मन में एक ऐसी प्रवृत्ति ने......कर लिया। [2]
5. इस विश्व में मैं......नहीं हूं। [3]
6. और......आंखों में एक अजानी वेदना झलक रही थी। [2]
10. ......नरेश को हार कर पीछे हटना पड़ा [3]
11. काच......अधीर नर [3]
13. ......चंद ! क्या गप्पें हांक रहा है। [2]
16. ......के टीकाकार ने असोच्चा का अर्थ किया है। [4]
18. लोकतंत्र......शासनतंत्र है। [4]
20. कसैलेपन की छाप भी इस पर ......की गई। [2]
21. दो......स्वीकार कर किसी सराय में ठहरने का प्रबंध कर लीजिए [3]
23. ......घोलना न्यायेन [3]
24. स्वरचित गीत का......गान किया। [3]

जैन भारती पाठक पहेली - 0012

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 ह	व	2 न		3 ज	न	4 वा	द		5 क
ल		6 ग	म	न		ह		7 ह	म
8 न	9 ज	र		10 प	ह	न	11 क	र	
	ग		12 क	द			रा		13 म
14 स	त	15 त			16 प्र	17 व	ह	मा	न
ज		18 न	म	19 क		ज			न
20 ग	र	म		21 म	हा	न	त	22 म	
		23 न	24 क	ल		दा		25 त	प
26 शा			द		27 का	र		ल	
28 प	र	च	म		ल		29 डू	ब	ने

प्रथम चयनित विजेता—मोनिका जैन, कालू

अन्य दस चयनित विजेता

1. कमलेश जैन, नरबाना
2. पुष्पादेवी बैद, जयपुर
3. शशि जैन, हिसार
4. सुशीलादेवी बाफणा, केलवा
5. मोहनराम पूनियाँ, मनेन्द्रगढ़ (म.प्र.)
6. पूर्णाबिन भोगर, सूरत
7. सत्यदेव मंडल, कोकड़ाझार (असम)
8. विनोदकुमार संचेती, हावड़ा
9. अलका भण्डारी, इरोड़
10. मैनादेवी घीया, पाडल्या (म.प्र.)

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

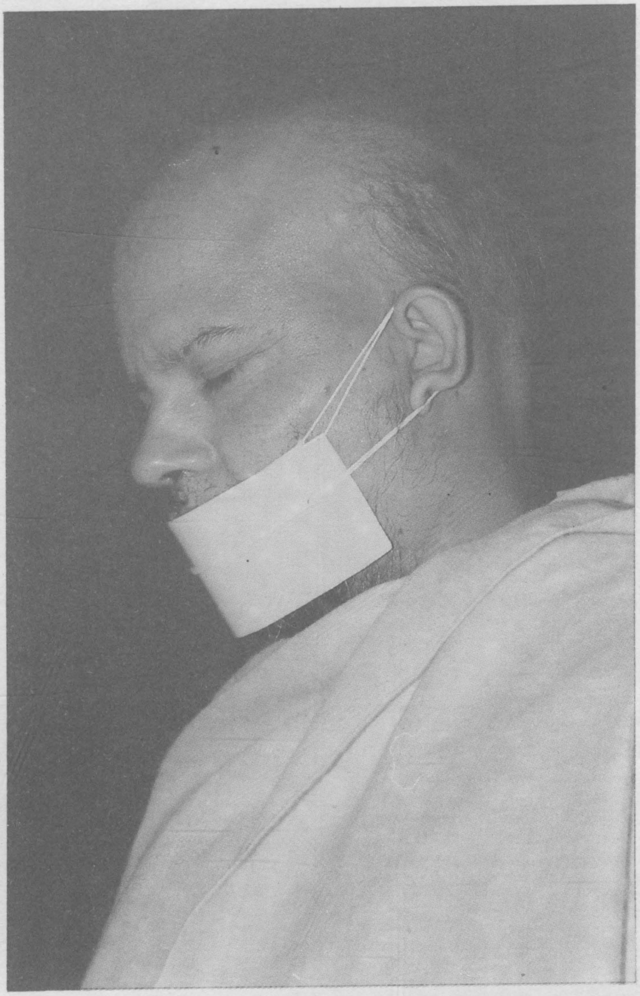

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, अप्रैल, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

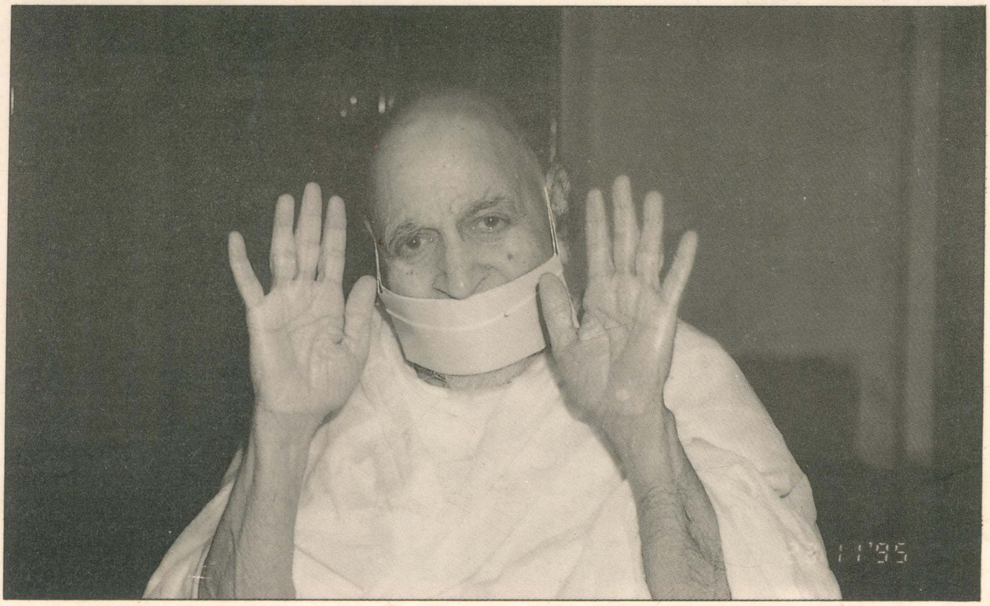

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

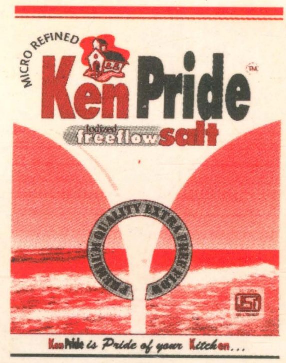

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)
Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।